

GOVERNMENT OF INDIA

ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA

CENTRAL
ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO. 19233

CALL No. BPa3 Dha-Kau

4

5

7

8



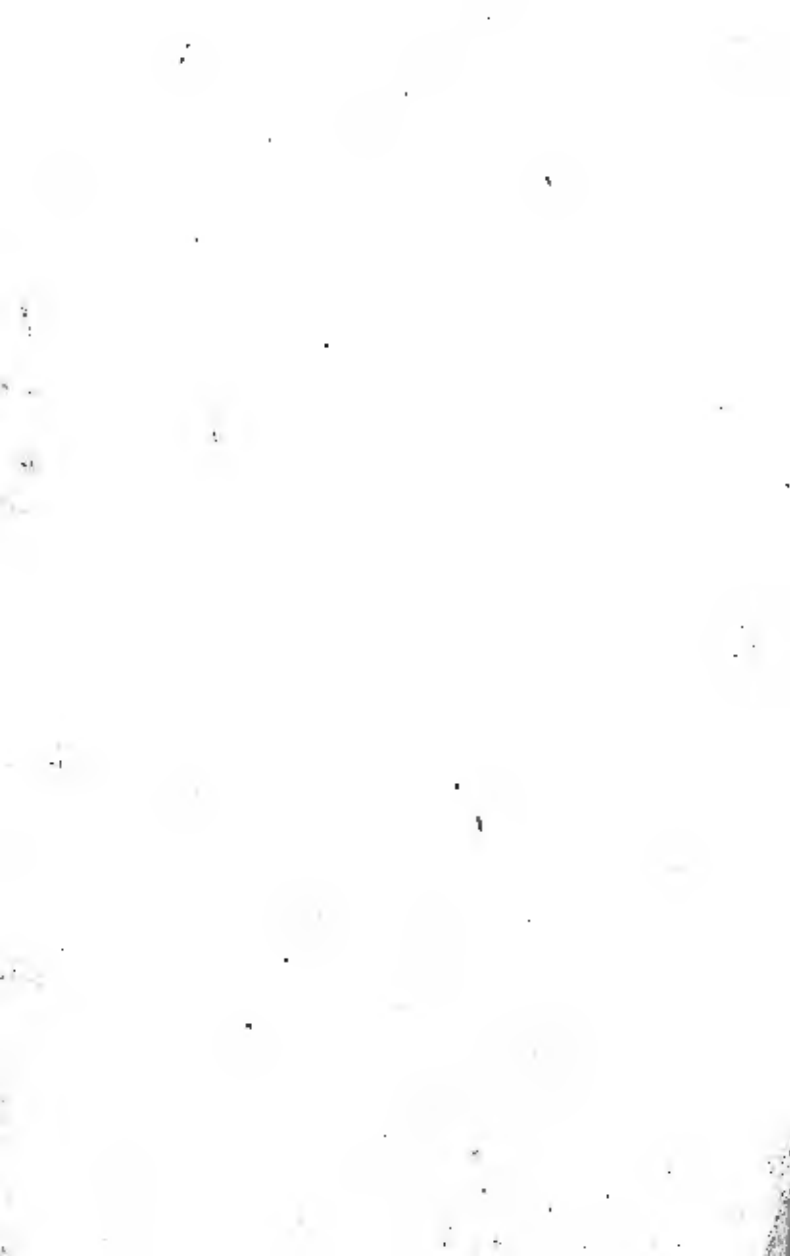
कर्मपट्ट

एक वै कवि कभी किसी अविनाशी शक्त को खत्म नहीं है, हो यह पा है









नमो तस्व भगवतो जगद्गतो सम्मा सम्बुद्धस्व



धर्म चक्र प्रवर्तन

THE
LIBRARY
OF THE
MUSEUM OF
ART AND
ARCHITECTURE
OF THE
METROPOLITAN MUSEUM OF ART
1000 FIFTH AVENUE
NEW YORK 10028

1851

धम्मपदं

[मूल पालि और हिन्दी अनुवाद]



CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY NEW DELHI.

Acc. No. ~~378~~.....

Date ~~27/5/52~~.....

Call No. ~~901-8-2-Kam~~.....

अनुवादक

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

BPa 3
Dha / Kam

करवरी }
१६४६

मुद्राब्द
२४६०

{ मूल्य
(१॥)

प्रकाशक—

गयाप्रसाद तिवारी, बी० काम०,
अध्यक्ष हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स,
शाहगंज, इलाहाबाद ।

दृष्टीयावृत्ति

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No. 19233.....

Date 29.1.62.....

Call No. B.P. 3..... *Shan / 500*

मुद्रक—

गयाप्रसाद तिवारी, बी. काम.,
अध्यक्ष नारायण प्रेस, नारायण विस्मिन्स,
शाहगंज, इलाहाबाद ।

तीसरी बार

युद्ध के समय आइसी के जीवन के अतिरिक्त सभी कुछ तो सहेगा या । कागज के अभाव में धम्मपद का यह अनुवाद बहुत दिनों से अभाष्य रहा । श्री० श्यामसाध जी तिथारी जी० काम० के पुरुषार्थ से यह तीसरी बार छप रहा है । वाङ्मय और आकार-प्रकार में इतना अन्तर हो गया है कि अब इसे नया संस्करण न कहकर नयी कृति भी कहा जा सकता है ।

भाई संभरद्व जी, सहायक सम्प्री, महाशोधी सभा, सारनाथ ने इसे सदायतापूर्वक छापने की आज्ञा दे दी है—जिसके लिये कृतज्ञ हूँ ।

सत्यनारायण कुटीर,
हि० सा० सम्मेलन
१०—२—४६

आनन्द कौसल्यायन



दो शब्द

एक पुस्तक को और केवल एक पुस्तक को जीवन भर साथी बनाने की यदि कभी आपकी इच्छा हुई है तो विश्व के पुस्तकालय में आपको धम्मपद से बढ़कर दूसरी पुस्तक मिलनी कठिन है।

जिस प्रकार महाभारत में भगवद्गीता एक छोटी किन्तु अमूल्य कृति है, उसी प्रकार त्रिपिटक में धम्मपद एक छोटा किन्तु मूल्यवान् रत्न है। काल की दृष्टि से भगवद्गीता की अपेक्षा धम्मपद प्राचीनतर है।

भगवद्गीता की विशेषता है, कई दार्शनिक विचारों के समन्वय का प्रयत्न; इसीलिए गीता के टीकाकारों में आपस में मतभेद है; लेकिन धम्मपद एक ही मार्ग है, एक ही शिक्षा है। उस पथ के अधिक का आदर्श निश्चित है।

यह बात शायद सार्थक है कि गीता की अपेक्षा प्राचीनतर होते हुए भी धम्मपद की केवल एक टीका—धम्मपद-अट्ठकथा उपलब्ध है, और भगवद्गीता की है जिसने पवित्रत उत्तनी मिस-मिस टीकाएँ।

भगवद्गीता की तरह धम्मपद का बड़ा प्रचार है। प्राचीन काल में चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं में इसके अनुवाद हुए हैं। वर्तमान काल में संसार की सभी सभ्य भाषाओं में—अँगरेज़ी, जर्मन, फ्रेंच आदि में—बहुतेरे अनुवाद हो चुके हैं। श्री० क्लर्कर्ट, जे० एडमन्ड अपने अँगरेज़ी अनुवाद की भूमिका में लिखते हैं :—

“यदि एशिया-मज्झ में कभी किसी अविनाशी ग्रन्थ की रचना हुई, तो वह यह है।

“इन पद्यों ने अनेक विचारकों के हृदय में चिन्तन की आग जलाई है। इन्हीं से अनुप्राणित होकर अनेक चीनी यात्री भक्कोलिया के

मवानक कान्तार और हिमालय की अलंघ्य चोटियों लँघकर भगवान् बुद्ध के चरणों से पूत भारतभूमि के दर्शनार्थ आए। इन्हीं को महाराज अशोक ने—जिन्होंने प्राणदण्ड का निषेध किया, गुलामी की प्रथा को कम किया, मनुष्यों और जानवरों तक के लिए अस्पृश्यता छोले—शिक्षालेखों पर अंकित कराया। आज दो हजार वर्ष से रोम और ईसाइयत की संस्कृति के प्रचार होते रहने पर भी, यूरोप और अमरीका के सभी विद्या-मन्दिरों में—कोपेनहेगन से कैम्ब्रिज तक और शिकागो से सेंटपीटर्सबर्ग (लैनिनग्राद) तक—यह यूरोपियन और अमरीकन लोगों द्वारा भ्रष्टा की दृष्टि से देखे जाते हैं।^{११}

बँगला, मराठी, गुजराती आदि भारत की अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी में भी एक से अधिक अनुवाद हैं। निम्नलिखित छः अनुवादों का हमें ज्ञान है :—

१. श्री सूर्यकुमार वर्मा, हिन्दी (१९०४)
२. भद्रस्त चन्द्रमणि महास्वधिर, हिन्दी और पालि (१९०६ ई०)
३. स्वामी सत्यदेव परिभाषक, हिन्दी (बुद्ध-गीता)
४. श्री विष्णुनारायण, हिन्दी, (सं० १९८५)
५. पं० गंगाप्रसाद उपरध्याय पालि-हिन्दी (१९३२)
६. त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन (१९३३)
(पालि, संस्कृत, हिन्दी)

छः छः अनुवादों के बाद यह सप्तवाँ अनुवाद ? प्रत्येक मनुष्य की अपनी भ्रष्टाञ्जलि अर्पित करने की इच्छा के सिवाय, इसे क्या कहें ? और यों कहने को कह सकते हैं कि अभी तक मिलने अनुवाद निकले उनमें कोई ऐसा नहीं जो धम्मपद-प्रेमियों का हर समय का साथी बन सके—रेल में, गाड़ी में, हर समय उनकी जेब में रह सके। अँगरेज़ी में धम्मपद की बुद्ध-सोसाइटी की ओर से प्रकाशित, मूल पालि सहित, प्रो० एन० के० भागवत का किया हुआ एक बहुत ही सुन्दर अनुवाद कुछ समय से हमारे सामने था। उसी से इस हिन्दी अनुवाद की

प्रेरणा मिली और सौभाग्य से इसे करने के लिए गोरखपुर के श्रीमहा-
वीरप्रसादजी 'पोद्दार' का आतिथ्य भी एक ऐसा सुयोग्य मिल गया,
जो ऐसे एकाग्रता-अपेक्षित कार्य के लिए आवश्यक था। उन्हीं के
बाग में रहकर उन्हीं के यहाँ हाथ के बने हुए कारागृह पर अभ्यस से इति-
तक सारा धम्मपद लिखा गया। इस प्रकार इस पुण्य-कार्य में
उनका बड़ा हाथ रहा है।

धम्मपद के अनुवाद में मैंने शब्दानुवाद के आग्रह को एक प्रकार
से विस्मृत छोड़के रक्खा। यही कोशिश रही कि अनुवाद-मात्र पढ़ने-
वाले को अनुवाद अनुवाद प्रतीत न हो। पता नहीं, कहाँ तक सफल
हुआ।

लेकिन मूल की रस्सी से भी मैं बँधा ही रहा। अनुवाद परम्परा-
गत अर्थों को दृष्टि में रखकर ही किया। हाँ, एक दो जगह किसी
किसी भाषा का अर्थ वैसा भी हो गया है जैसा वह अपने जीवन में
भासित हुआ।

भाई धर्मरत्न ने पुस्तक को दोहराने, प्रकृ देखने आदि में खुद
सहायता की। उनकी पैनी डॉल के बिना कुछ न कुछ अशुद्धियाँ जरूर
रह जातीं। अब जो अशुद्धियाँ, पाठक देखें उनके लिए उत्तरदायी मैं
ही हूँ।

पारिभाषिक शब्दों से बचने रहने का प्रयत्न करने पर भी कुछ न
कुछ शब्द का ही गए। ऐसे शब्दों को अन्त में टिप्पणी सहित दे
दिपा है।

अनुवाद में जिन जिन ग्रन्थों और जिन जिन मित्रों से सहायता मिली
उन सभी का मैं कितना कृतज्ञ हूँ, उसे लिखकर कैसे प्रकट करूँ !

मुक्तेश्वरकुटी बिहार,

सारनाथ,

२४—५—३८

}

आनन्द कौसल्यायन

विषय-सूची

	पृष्ठ		पृष्ठ
१—यमकवग्गो	१	१४—मुद्रवग्गो	५१
२—अप्यमादवग्गो	३	१५—सुखवग्गो	५६
३—विप्तवग्गो	१०	१६—पियवग्गो	५८
४—पुष्कवग्गो	१४	१७—कोधवग्गो	६२
५—बालवग्गो	१८	१८—मलवग्गो	६६
६—धर्म्मितवग्गो	२२	१९—बम्महुवग्गो	७२
७—अर्हस्तवग्गो	२६	२०—मग्गवग्गो	७६
८—सहस्रवग्गो	२९	२१—पक्खिणकवग्गो	८१
९—पापवग्गो	३३	२२—निरयवग्गो	८५
१०—इण्डवग्गो	३७	२३—नागवग्गो	८८
११—अरावग्गो	४२	२४—तयहावग्गो	९३
१२—असवग्गो	४५	२५—भिक्षुवग्गो	१०१
१३—लोकवग्गो	४८	२६—आस्यवग्गो	१०८

मनो यस्य मनश्चेन्न भवति समासमुत्तरस्य

धम्मपदं

१—यमकवग्गो

(१)

मनोपुञ्जस्मा धम्मो मनोसेट्ठा मनोमया ।

मनसा चे पटुहेन भासति वा करोति वा ।

ततो 'मं सुखमम्भेति चक्षुसा' च ज्ञातो परं ॥१॥

सभी धर्म (= अवस्थाएँ) पहले मन में उत्पन्न होते हैं, मन ही मुख्य है, वे मनोमय हैं। जब आदमी मलिन मन से बोलता वा कार्य करता है, तब दुःख उसके पीछे जैसे ही हो जाता है, जैसे (गाड़ी के) पहिये पैरों के पैरों के पीछे पीछे।

(२)

मनोपुञ्जस्मा धम्मो मनोसेट्ठा मनोमया ।

मनसा चे पसमेन भासति वा करोति वा ।

ततो 'मं सुखमम्भेति ज्ञाया' च अनापविनी ॥२॥

सभी धर्म (= अवस्थाएँ) पहले मन में उत्पन्न होते हैं, मन ही मुख्य है, वे मनोमय हैं। जब आदमी स्वच्छ मन से बोलता वा कार्य करता है, तब सुख उसके पीछे जैसे ही हो जाता है, जैसे सभी साथ न होने वाली ज्ञाया आकाशी के पीछे पीछे।

(३)

अक्कोप्पि मं अयधि मं अजिनि मं अहासि मे ।

ये च तं उपनयहन्ति वेरं तेसं न सम्मत्ति ॥३॥

‘मुझे गाली दी’, ‘मुझे मारा’, ‘मुझे हराया’, ‘मुझे छूट लिया’,
जो ऐसी बातें सोचते रहते हैं उनका वैर कभी शान्त नहीं होता ।

(४)

अक्कोप्पि मं अयधि मं अजिनि मं अहासि मे ।

ये तं न उपनयहन्ति वेरं तेसूपसम्मत्ति ॥४॥

‘मुझे गाली दी’, ‘मुझे मारा’, ‘मुझे हराया’, ‘मुझे छूट लिया’,
जो ऐसी बातें नहीं सोचते, उन्हीं का वैर शान्त हो जाता है ।

(५)

न हि वेरेन वेरानि सम्मत्तीय कुदाचनं ।

अवेरेन च सम्मत्ति एस धम्मो सनत्तनो ॥५॥

वैर, वैर से कभी शान्त नहीं होता; अवैर से ही वैर शान्त होता
है—वही संसार का सनातन नियम है ।

(६)

परे च न विजानन्ति मयमेव पमामसे ।

ये च तस्य विजानन्ति ततो सम्मत्ति मेधया ॥६॥

अन्य लोग नहीं विचारते कि हम इस संसार में नहीं रहेंगे; जो
विचारते हैं उन (पण्डितों) का वैर शान्त हो जाता है ।

(७)

सुभानुपत्तिं विहरन्तं इन्द्रियेसु अस्सवुत्तं ।

भोजनमिह अमच्छन्तुं कुत्तीतं दीनवीरियं ।

तं वे पसहति मारो वातो रुक्खं च दुग्धत्वं ॥७॥

जो काम-भोग के जीवन में रत है, जिसकी इन्द्रियाँ उस के काम में नहीं हैं, जिसे भोजन की उचित मात्रा का ज्ञान नहीं है, जो आलसी है, जो उद्योगहीन है, उसे मार जैसे गिरा देता है जैसे वायु दुर्बल वृक्ष को ।

(८)

असुभासुपस्तिं विहरन्तं इन्द्रियेषु सुसंयुतं ।
भोजनमिह च मत्तच्छुं सदा आरक्षणीरिषं ।
तं चे नृपसहस्रि मारो वातो सेलं च पञ्चतं ॥५॥

जो काम-भोग के जीवन में रत नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ उसके काम में हैं, जिसे भोजन की उचित मात्रा का ज्ञान है, जो भोजनान् तथा उद्योगी है, उसे मार जैसे नहीं दिला सकता जैसे वायु शिलाग्र पर्वत को ।

(९)

अनिककसावो कासावधो बत्वं परिरहेस्सति ।
अपेतो वमसकप्पेन न सो कासावमरहति ॥६॥

जो अपने मन को सम्बद्ध किए बिना काषाय-वक्त्र को धारण करता है, सत्य और संयम से रहित वह व्यक्ति काषाय-वक्त्र का अधिकारी नहीं है ।

(१०)

यो च वमसकसावस्स सीलेसु सुसमाहितो ।
अपेतो वमसकप्पेन स चे कासावमरहित ॥१०॥

जिसने अपने मन के मूल को दूर कर दिया है, जो सदाचारी है, सत्य और संयम से युक्त वह व्यक्ति ही काषाय-वक्त्र का अधिकारी है ।

(११)

असारे सारमतिनो सारे आसारदस्सिनो ।

ते सारं नाधिगच्छन्ति मिच्छासङ्कप्पगोचरा ॥११॥

असार (—वस्तु) को सार और सार (—वस्तु) को असार समझनेवाले, झूठे संकल्पों में संलग्न मनुष्य सार (—वस्तु) को नहीं प्राप्त करते ।

(१२)

सारञ्च सारतो यत्था असारञ्च असारतो ।

ते सारं नाधिगच्छन्ति सम्भासङ्कप्पगोचरा ॥१२॥

सार (—वस्तु) को सार और असार (—वस्तु) को असार समझनेवाले, सबे संकल्पों में संलग्न मनुष्य सार (—वस्तु) को प्राप्त करते हैं ।

(१३)

यथागारं सुखञ्जनं बुद्धी समतिविष्कति ।

एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविष्कति ॥१३॥

यदि घर की छत ठीक न हो, तो जिस प्रकार उस में वर्षा का प्रवेश हो जाता है, उसी प्रकार यदि (संयम का) अभ्यास न हो, तो मन में राग प्रवृत्ति हो जाता है ।

(१४)

यथागारं सुखञ्जनं बुद्धी न समतिविष्कति ।

एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविष्कति ॥१४॥

यदि घर की छत ठीक हो, तो जिस प्रकार उसमें वर्षा का प्रवेश नहीं होता, उसी प्रकार यदि (संयम का) अभ्यास हो तो मन में राग प्रवृत्ति नहीं होता ।

(१५)

इष सोचति पैष सोचति

पापकारी वसयस्थ सोचति ।

सो सोचति सो विह्वल्यति

दिस्वा कस्मकितिद्वमचनो ॥१५॥

पापी मनुष्य दोनों जगह शोक करता है—यहाँ भी और परलोक में भी । अपने दुष्ट कर्म को देखकर वह शोक करता है, पीड़ित होता है ।

(१६)

इष मोदति पैष मोदति

कतपुष्पो वसयस्थ मोदति ।

सो मोदति सो प्रमोदति

दिस्वा कस्मकिसुखिमचनो ॥१६॥

शुभ कर्म करने वाला मनुष्य दोनों जगह प्रसन्न रहता है—यहाँ भी और परलोक में भी । अपने शुभ कर्म को देखकर वह मुदित होता है, प्रमुदित होता है ।

(१७)

इष तप्यति पैष तप्यति

पापकारी वसयस्थ तप्यति ।

पाप मे कतमित तप्यति

भीष्यो तप्यति दुर्गतिव्रतो ॥१७॥

पापी मनुष्य दोनों जगह संतप्त होता है, यहाँ भी और परलोक में भी । 'मैंने पाप किया है' सोच संतप्त होता है, कुर्याति को प्राप्त हो और भी संतप्त होता है ।

(१८)

इष नन्दति पेथ नन्दति

कतपुच्छो उभयत्थ नन्दति ।

पुच्छं मे कतन्ति नन्दति

भीय्यो नन्दति सुग्गसिंगतो ॥१८॥

शुभ कर्म करनेवाला मनुष्य दोनों जगह आनन्दित होता है—यहाँ भी और परलोक में भी । 'मैंने शुभ-कर्म किया है' सोच आनन्दित होता है, सुगति को प्राप्त हो और भी आनन्दित होता है ।

(१९)

बहुंवि चे सहितं भासमनो

न तक्करो होति नरो पसत्तो ।

गोपो ष गायो गायं परेसं

न भागवा सामज्जमस्स होति ॥१९॥

धर्म-ग्रन्थों का कितना ही पाठ करे, लेकिन यदि प्रमाद के कारण मनुष्य उन धर्म-ग्रन्थों के अनुसार आचरण नहीं करता, तो दूसरों की गोथें गिनने वाले ग्वालों की तरह वह भ्रमवत्त्व का भागी नहीं होता ।

(२०)

अप्पन्धि चे सहितं भासमानो

धम्मस्स होति अनुबम्मचारो ।

रागञ्ज दोसञ्ज पहाय मोहं

सम्मप्पजानो सुविसुत्तचित्तो ।

अनुपादिवालो हथ का दुरं का

स मानवा समकल्पस्य होति ॥२०॥

धर्म-ग्रन्थों को धारें योद्ध ही पाठ करे, लेकिन यदि राग, द्वेष तथा मोह से रहित, कोई व्यक्ति धर्म के अनुसार आचरण करता है तो ऐसा बुद्धिमान्, अनासक्त, यहाँ वहाँ (दोनों जगह) भोगों के पीछे न भागनेवाला व्यक्ति ही नमस्कृत्य का भागी होता है ।

२—अप्रमादवर्गो

(२१)

अप्रमादो अमृत-पदं पमादो मञ्जुनो पदं ।

अप्रमादा न मीयन्ति ये पमादा यथा मता ॥ १ ॥

अप्रमाद अमृत-पद है, प्रमाद भुक्त्यु का पद । अप्रमादी मनुष्य मरते नहीं, और प्रमादी मनुष्य मृत ही के समान होते हैं ।

(२२)

एवं विसेसतो अज्ञा अप्रमादमिह परिजता ।

अप्रमादे पमोदन्ति अरियानं गोचरे रता ॥ २ ॥

अप्रमाद के विषय में उसे विशेष रूप से ज्ञान, आर्यों के आचरण में रत, पश्चिमत-जन अप्रमाद में प्रसन्न होते हैं ।

(२३)

ते श्रमिनी साततिका निरुधं दृष्ट्वा परकृपा ।

पुस्तन्ति धीरा निष्कार्ष्ण योगक्षेमं अनुत्तरं ॥ ३ ॥

ध्यान करनेवाले, जागरूक, नित्य दृढ़ पराक्रम में लगे रहनेवाले धीर-जन ही अनुत्तर बोधा-क्षेम निर्वाण को प्राप्त करते हैं ।

(२४)

ज्जुलनवतो सतिमतो

सुचिकम्मस्स निसम्मकारिणो ।

सकथतरस च धम्मतीविनो

अप्यमत्तस्स यस्सोमिद्वड्ढति ॥४॥

उद्योगी, जागरूक, पवित्र-कर्म करने वाले, सोच समझ कर काम करनेवाले, संयमी, धर्मानुसार नीतिका चलानेवाले, अप्रमादी मनुष्य के यश की वृद्धि होती है ।

(२५)

उट्ठानेन अप्यमादेन सकथमेन एमेन च ।

दीपं कयिराध मेधावी यं ओषो नाभिकीरति ॥ ५ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य उद्योग, अप्रमाद, संयम और दम द्वारा ऐसा दीप बनावे, जिसे बाढ़ बुझा न सके ।

(२६)

पमादमनुयुज्जन्ति वात्सा तुम्हेधिना अना ।

अप्यमादकथ मेधावी धनं सेट्ठं च रक्खति ॥ ६ ॥

मूर्ख, दुर्बुद्धि प्रमाद करते हैं । बुद्धिमान् पुत्र्य भेदधन की तरह काममाद की रक्षा करते हैं ।

(२७)

मा पमादमनुयुज्जेय मा कामरतिसम्भवं ।

अप्यमत्तो हि भायन्तो पप्पोति विपुलं सुखं ॥७॥

प्रमाद मत करो । काम-भोगों में मत कौंसो प्रमाद-रहित हो ध्यान करने से विपुल सुख की प्राप्ति होती है ।

(२८)

पमाद अप्यमादेन यदा जुदति पखिड्ढी ।

पब्बापासादमादय्द असोको सौकिणि पणं ।

पब्बतट्ठो च सुम्भट्ठे धीरो वात्ते अपेक्खति ॥ ८ ॥

३—चित्तवमो

(३३)

फल्गुनं चपलं चित्तं दुरक्षं दुर्निवारयं ।

वृत्तं करोति मेधावी उमुकारो यः तेजनं ॥ १ ॥

चित्त चंचल है, चपल है, दुरक्ष है, दुर-निवार्य है। मेधावी-पुरुष इसे उसी प्रकार सीधा करता है, जैसे वाण बनानेवाला वाण को।

(३४)

वारिजोयं बले स्निग्धो ओकमोक्त उद्भवतो ।

परिफल्गुति'दं चित्तं मारधेय्यं पद्मातवे ॥ २ ॥

मलाशय से निकालकर स्थल पर फेंक दी गई मछली तड़फड़ाती है। उसी प्रकार चित्त मार के फंदे से निकलने के लिये तड़फड़ाता है।

(३५)

दुष्मिग्गहस्स लघुनो यत्थ कामनिपातिनो ।

चित्तस्स दमधो साधु चित्तं दग्गं दग्गं सुखावहं ॥ ३ ॥

कठिनाई से निग्रह किये जा सकनेवाले शीमगामी, जहाँ चाहे वहाँ चले जानेवाले चित्त का दमन करना अशुद्ध है। दमन किया गया चित्त सुख देनेवाला होता है।

(३६)

सुदुरसं सुनिपुणं यत्थकामनिपातिनं ।

चित्तं रक्खेय्य मेधावी, चित्तं शुचं सुखावहं ॥ ४ ॥

जब बुद्धिमान् आदमी प्रमाद को अप्रमाद से जीत लेता है, तो प्रशा-रूपी प्रासाद पर खड़ा हुआ वह शोकरहित और मनुष्य दूसरे शोक-प्रस्त मूर्ख जनों की ओर उसी तरह देखता है, जैसे पर्वत पर खड़ा हुआ आदमी जमीन पर लड़े हुए आदमियों की ओर ।

(२६)

अप्यमत्तो पमत्तसु सुत्तसु बह्वंजागरो ।

अवलसं व सीधस्सो हित्वा याति सुमेधसो ॥ ६ ॥

प्रमादियों में अप्रमादी, सोते रहनेवालों में जागरूक, बुद्धिमान्-आदमी उसी प्रकार आगे बढ़ जाता है, जैसे शीश्र-गामी बौद्धा दुर्बल बोड़े से ।

(३०)

अप्यमावेन मयचा देवानं सेवुतं गती ।

अप्यमार्धं पसंसन्ति पमादो गरहितो सदा ॥ १० ॥

अप्रमाद से ही इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ बना । इसलिए अप्रमाद की सदा प्रशंसा होती है और प्रमाद की निन्दा ।

(३१)

अप्यमावरतो भिक्षु पमावे भयवस्ति वा ।

सज्ज्योजनं अयुं धूलं चहं अग्गीव गच्छति ॥ ११ ॥

अप्रमाद में रत रहने वाला या प्रमाद से भय खाने वाला भिक्षु, माग की तरह, छोटे-मोटे वृक्षों को जलाता हुआ जाता है ।

(३२)

अप्यमावरतो भिक्षु पमावे भयवस्ति वा ।

अमज्जो परिहाणाय निज्जाणस्सेव सन्तिके ॥ १२ ॥

अप्रमाद में रत रहने वाले या प्रमाद से भय खाने वाले भिक्षु का पतन होना असम्भव है । वह निर्वाण के समीप है ।

बुद्धिमान् मनुष्य पुष्करता से दिखाई देने वाले, अत्यन्त चालाक,
वहाँ चाहे वहाँ चले जानेवाले चित्त की रक्षा करे। सँभाल कर रक्खा
गया चित्त मुक्त देने वाला होता है।

(३७)

दूरज्जमं एकचरं असरीरं गुहासथं ।

ये चित्तं सन्धमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारवन्धना ॥५॥

जो दूरगामी, अकेले विचरनेवाले, निराकार, गुहाआश्रय चित्त
का संयम करेंगे, वे ही मार के बन्धन से मुक्त होंगे।

(३८)

अनवट्ठितचित्तस्स सज्जमं अविजानतो ।

परितवपसादस्स पब्बया न परिपूरति ॥६॥

जिसका चित्त स्थिर नहीं, जो सज्जम को जानता नहीं, जिसका
चित्त प्रसन्न नहीं वह कभी प्रज्ञावान् नहीं हो सकता।

(३९)

अनवसुतचित्तस्स अनव्याहृतचेतसो ।

पुण्यपापपहीयास्स नरिं जगदतो भयं ॥ ७ ॥

जिसका चित्त भ्रष्ट-रहित है, जिसका चित्त स्थिर है, जो पाप-पुण्य-
विहीन है, उस जागरूक पुरुष के लिए भय नहीं।

(४०)

कुम्भूपमं कायमिमं विवित्वा

नगरूपमं चित्तमिदं ठप्पेत्वा ।

लोघेयं मारं पब्बयायुधेन

चित्तं च रक्खे अमिदेषनो सिया ॥८॥

शरीर को घड़े के समान (नगर) और चित्त को नगर के समान जान, प्रहाररूपी हथियार लेकर मार से मुक्त करे । जीत लेने पर भी चित्त की रक्षा करे तथा अनासक्त रहे ।

(४१)

अधिरं चतुर्वै कायो पठधिं अधिसेरसति ।

हुड्डो अपेतविडम्बाणो निरर्थं यव कलिङ्गरं ॥ ६ ॥

बड़ो ! यह दुच्छ शरीर शीघ्र ही चेतना-रहित हो निरर्थक काठ की भाँति जमीन पर जा पड़ेगा ।

(४२)

विस्तो दिसं यस्तं कथिरा वेदी वा पन वेरिनं ।

मिच्छापण्हितं चिरां पापियो' नं ततो करे ॥ १० ॥

शत्रु शत्रु की वा वैरी वैरी की जितनी हानि करता है, कुमार्ग की ओर गया हुआ चित्त मनुष्य की उससे कहीं अधिक हानि करता है ।

(४३)

न सं माता पिता कथिरा अकम्मे वापि च व्यासका ।

सम्मापण्हितं चिरां सेय्यसो'नं ततो करे ॥ ११ ॥

न माता-पिता, न दुतरे रिश्तेदार, आदमी की उतनी भलाई करते हैं, जितनी भलाई सम्मार्ग की ओर गया हुआ चित्त करता है ।

४—पुष्पवग्गो

(४४)

को इमं पठथिं विजेस्सति यमलोकञ्च इमं सदेवकं ।

को धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुष्पमिष पचेस्सति ॥१॥

कौन है जो देवताओं सहित इस यमलोक तथा इस पृथ्वी को
जातेगा ! कौन चतुर-पुरुष अच्छी तरह से उपदिष्ट धर्म के पदों का
पुष्प की भाँति चयन करेगा ?

(४५)

सेखो पठथिं विजेस्सति यमलोकञ्च इदं सदेवकं ।

सेखो धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुष्पमिष पचेस्सति ॥२॥

शेख ही है, जो देवताओं सहित इस यमलोक तथा इस पृथ्वी को
जातेगा ! चतुर शैख अच्छी तरह से उपदिष्ट धर्म के पदों का पुष्प की
भाँति चयन करेगा ?

(४६)

केतूपमं कायमिमं विविरुवा

भरीचिधम्मं अभिस्सन्नुधानो ।

छेत्त्वान्मारस्स पपुष्फकानि

अदस्सनं मञ्जुराजरस्स गच्छे ॥३॥

इस कावा को फेन के समान या मरु-मरीचिका के समान मान,
मार के फंदे को छोड़, ममराज को न दिखाई देनेवाला बने ।

(४७)

पुष्कानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं ।

सुप्तं गामं मक्षोघो'व मञ्जु आदाय गच्छति ॥ ४७ ॥

(राग आदि) पुष्पों के चुनने में आसक्त आदमी को मृत्यु वैसे ही बहा ले जाती है, जैसे लोहे हुए गाँव को (नदी को) बड़ी बाढ़ !

(४८)

पुष्कानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं ।

अतिष्ठं येव कामेसु अन्तको कुरुते वसं ॥ ४८ ॥

(राग आदि) पुष्पों के चुनने में आसक्त आदमी को यमराज काम-भोगों में अतृप्त अवस्था में ही अपने बश में कर लेता है ।

(४९)

यथापि भमरो पुष्कं वरणागन्धं अहेठयं ।

पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार फूल के बर्ण या गन्ध को बिना हानि पहुँचाये भ्रमर रस को लेकर चल बैठा है, उसी प्रकार मुनि गाँव में विचरण करे ।

(५०)

न परेसं विलोमानि न परेसं कताकतं ।

अत्तनो'व अवेक्खेव्य कतानि अकतानि च ॥ ५० ॥

न दूसरों के दोष, न दूसरों के कृत-अकृत को देखे । (आदमी को चाहिए कि वह) अपने ही कृत-अकृत को देखे ।

(५१)

यथापि रुधिरं पुष्कं वरणावर्तं अगन्धकं ।

एवंसुभासिता वाचा अफत्ता होति अकुञ्चतो ॥ ५१ ॥

जिस प्रकार सुन्दर वर्ण-युक्त (किन्तु) गन्ध-रहित पुष्प होता है, उसी प्रकार कथनानुसार कार्य न करने वाले की सुभाषित वाणी निष्फल होती है ।

(५२)

यथापि हचिरं पुष्कं पवणवन्तं सगन्धकं ।

एवं सुभाषिता वाचा सफला होति सङ्कुम्भवतो ॥ ६ ॥

जिस प्रकार सुन्दर वर्ण-युक्त सुगन्ध-युक्त पुष्प होता है, उसी प्रकार कथनानुसार कार्य करनेवाले की सुभाषित वाणी सफल होती है ।

(५३)

यथापि पुष्करासिम्हा कथिरा मात्वागुणे बहु ।

एवं जातेन मण्येन कत्तम्भं कुसलं बहु ॥ १० ॥

जिस प्रकार कोई फूलों के डेर में से बहुत पारी मालावेँ रूँये, उसी प्रकार संसार में पैदा हुये प्राणी को चाहिये कि वह बहुत से शुभ कर्म करे ।

(५४)

न पुष्पताम्बो पटिपातमेति

न चन्दनं तगरमल्लिका वा ।

सत्तज्ज पण्णो पटिपातमेति

सम्भा विद्या सप्पुरिसो पचति ॥ ११ ॥

न तो पुष्पों की सुगन्ध, न चंदन की सुगन्ध न तगर वा चेमेली की सुगन्ध हवा के विकस्र जाती है; लेकिन सस्युद्धों की सुगन्ध हवा के विकस्र भी जाती है । सस्युद्ध सभी विद्याओं में (अर्थात् सुगन्ध) फैलाते हैं ।

(५५)

चन्दनं तगरं वापि उत्पलं अथ वत्सिकी ।

एतेषां गन्धजातानां सीलगन्धो अनुत्तरो ॥१२॥

चन्दन, तगर कमल या जूही, इन सभी की सुगन्धियों से सदाचार की सुगन्ध बढ़कर है ।

(५६)

अप्यमत्तो अयं गन्धो यार्थं तरगचन्दनी ।

यो च सीलवर्षं गन्धो याति देवेषु उत्तमो ॥ १३॥

यह जो तगर और चन्दन की गन्ध है यह अल्प मात्रा है । सदाचारियों की उत्तम सुगन्ध देवताओं (तक) में फैलती है ।

(५७)

तेषां सम्पन्नसीलानां अप्यमाद्विहारिनं ।

सम्मदब्बाविमुत्तानां भारो भर्गो न विन्दति ॥१४॥

उन सदाचारियों, निरालस विचरनेवालों तथा ज्ञान द्वारा पूरी तरह से मुक्त हुआओं के मार्ग को भार नहीं रोकता है ।

(५८)

तथा संकरधानस्मिं चस्मिन्नस्मिं महापथे ।

पदुमं तस्य आयेय सुचिगन्धं मनोरमं ॥१५॥

(५९)

एवं संकार भूतेषु अन्धभूते पुण्डुजने ।

अतिरोचति पब्बाय सम्मासम्भुत्तासावको ॥१६॥

त्रिषु प्रकार महापथ पर चँके हुए कूड़े के ढेर में सुन्दर सुगन्धित गुलाब का फूल पैदा हो, उसी प्रकार कूड़े के सदृश अन्धे अज्ञ जनों में सम्यक् सम्बुद्ध का शिष्य (अपनी) प्रज्ञा से प्रकाशमान होता है ।

५.—बालगो

(६०)

दीया जागरतो रति दीर्घं सन्तस्स योजनं ।

दीघो बलानं संसारो सद्धम्मं अविजानतं ॥१॥

जागते रहनेवाले की रात लम्बी हो जाती है । पके हुये का योजन लम्बा हो जाता है । इसी प्रकार सद्धर्म को न जानने वाले मूर्ख आदमी का संसार (= आनन्दमय) लम्बा हो जाता है ।

(६१)

चरकणे भाषिगच्छेय्य सेय्यं सविसमत्तनो ।

एक चरिअंवल्लुं कथिरा नत्थि बाले सहायता ॥२॥

बढ़ि बिचरणा करते हुये, अपने से श्रेष्ठ वा अपने जैसे साथी को न पाये, तो आदमी इष्टतापूर्वक अकेला ही रहे । मूर्ख आदमी की सहायता (कम्पनी) नहीं ।

(६२)

पुत्ता मग्गिअं धम्ममग्गिअं इति बालो विद्वज्जति ।

अत्ता हि अत्तनो नत्थि कुतो पुत्ता कुतो धर्मं ॥ ३ ॥

‘पुत्र मेरे है’, ‘धर्म मेरा है’ सोच, मूर्ख आदमी दुःख पाता है । जब शरीर (तब) अपना नहीं, तो कहाँ पुत्र और कहाँ धर्म !

(६३)

यो बालो मच्छती मारुपं पण्डितो वापि तेन सो ।

बालो च पण्डितमानी, स वे बालो’ति बुधसि ॥ ४ ॥

यदि मूर्ख आदमी अपने को मूर्ख समझे, तो उठने अंश में तो वह बुद्धिमान है। असली मूर्ख तो वह है जो मूर्ख होते हुए अपने आपको बुद्धिमान समझता है।

(६४)

यावज्जीवमपि चे बालो परित्यक्तं परिरुपासति ।

■ सो धर्मं विजानाति दम्भी सुपरसं यथा ॥५॥

मूर्ख आदमी चाहे जन्म भर परित्यक्तों की संगति में रहे; वह सदर्भ को नहीं जान सकता, जैसे कड़वी दाल के स्वाद को।

(६५)

सुहृत्तमपि चे विष्णुं परित्यक्तं परिरुपासति ।

स्वल्पं धर्मं विजानाति जिह्वा सुपरसं यथा ॥६॥

बुद्धिमान् आदमी चाहे सुहृत् भर ही परित्यक्तों की संगति में रहे; वह सदर्भ को जान लेता है जैसे जिह्वा दाल के रस को।

(६६)

वरन्ति बाला दुस्मेधा अभिरोनेव अचना ।

करोन्ता पापकं कर्म यं होति कटुकफलं ॥७॥

मूर्ख दुर्बुद्धि लोग पाप-कर्म करते हुए, जिसका फल कटुवा होता है, अपने आप अपने शत्रु की तरह आचरण करते हैं।

(६७)

न तं कर्म कतं साधु यं कत्वा अमुतप्सति ।

यस्स अस्सुमुखो रोद विपाकं पद्विसेवति ॥८॥

उस काम का करना अच्छा नहीं जिसे करके पीछे पड़ना पड़े, और जिसके फल को रोते हुए भोगना पड़े।

(६८)

तज्ज'कर्मं कृतं साधु यं कत्वा नानुत्पत्ति ।

परस पत्नीतो मुमनो विपाकं पटिसेवति ॥६॥

इस काम का करना अच्छा है, बिसे करके पीछे पड़वाना न पड़े,
और जिसका कल प्रसन्न-चित्त होकर भोगना मिले ।

(६९)

मधुवा मध्यमति बालो पाप पापं न पचति ।

यथा न पचति पापं अथ बालो दुष्कृतं निगच्छति ॥१०॥

अब तक पाप-कर्म कल नहीं देता तब तक मूल आदमी उसे
मधु की तरह (सीठा) समझता है, लेकिन जब पाप-कर्म कल देता
है, तब उसे दुःख होता है ।

(७०)

मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेव भोजनं ।

न सो संस्तधम्मानं कलं अगघति सोलसिं ॥११॥

यदि मूल आदमी महीने महीने पर (केवल) कुशा की मोक से
भी भोजन करे, तो भी वह कर्म के जानकारों के सोलहवें हिस्से के
बराबर नहीं हो सकता ।

(७१)

न हि पापं कृतं कर्मं सक्खु खीरंय मुचति ।

इहन्तं बालमन्वेति भस्मच्छन्नोय पावको ॥१२॥

पापकर्म ताजे दूध की भाँति द्रव्य विकार नहीं खाता । वह भस्म
से ढकी आग की तरह जलाता हुआ मूल आदमी का पीछा करता है ।

(७२)

यावदेव अन्तस्वाय जत्तं बालस्स आसति ।

इन्ति बालस्स मुक्कंसं मुदमस्स विपातत्थं ॥१३॥

मूर्ख आदमी का जितना ज्ञान है सब उसके लिए अनर्थकर होता है । उसकी मूर्खा (= शिर = मूढ़) को गिराकर उसके शुभ कर्मों का नाश कर देता है ।

(७३)

असतं भावनमिच्छेद्य पुरेस्सारञ्च भिक्षुसु ।
आवासेषु च हस्तारियं पूजा परकुलेषु च ॥१४॥

(७४)

अमेव कतमज्जन्तु गिही पञ्चजिता उभो ।
अमेवातिवसा अस्तु किञ्चाकिञ्चेसु किम्पि ।
इति बलस्स सङ्कुप्पो इच्छा मानो च यद्धति ॥१५॥

अप्रसूत वस्तु की चाह करता है, भिक्षुओं में भिक्षा बनने की चाह करता है, मठों और विहारों का स्वामी बनने की चाह करता है, दूसरे कुलों में पूजित होना चाहता है, 'गृहस्थ और प्रव्रजित दोनों मेरा ही किया मानें' चाहता है, 'कल्प अक्षरों में मुझ पर ही निर्भर रहें' चाहता है—इसी प्रकार के संकल्प करनेवाले मूर्ख आदमी की इच्छाएँ और अभिमान बढ़ता है ।

(७५)

अध्वा हि लामूपनिसा अध्वा निब्बान-गामिनी ।
एवमेतं अभिख्याय भिक्षु बुद्धस्स सावको ॥
सत्कारं नाभिनन्देय्य विवेकमनुजहये ॥१६॥

साम का रास्ता दूसरा है और निर्वाण का दूसरा । इसे इस प्रकार जानकर बुद्ध का शिष्य भिक्षु सत्कार की इच्छा न करे, विवेक (= एकान्तचर्या) की वृद्धि करे ।

६—परिहृतवग्गो

(७६)

निधीनं च पक्खारं च पस्से पस्से वज्ज-वस्सिनं ।

निगग्यवादिं मेधावि तादिसं पबिडत्तं भजे ।

तादिसं भजमानं स सेव्यो होति न पापियो ॥ १ ॥

जो आदमी अपना दोष दिखानेवाले को (भूमि में छिपे) भन दिखानेवाले की तरह समझे, जो समय के समर्थक, मेधावी, 'परिहृत' की संगति करे, उस आदमी का कल्याण ही होता है, अकल्याण नहीं ।

(७७)

ओषधेय्यानुसासेय्य असब्भा च निवारये ।

सत्तं हि सो पियो होति असत्तं होति अप्पियो ॥ २ ॥

जो उपदेश दे, अनुशासन करे, अनुचित कार्य से रोके, वह सत्पुरुषों को प्रिय होता है, असत्पुरुषों को अप्रिय ।

(७८)

न भजे पापके मिच्छे न भजे पुरिसाधमे ।

भजेय मिच्छे कम्पायो भजेय पुरिसुत्तमे ॥ ३ ॥

न दुष्ट मित्रों की संगति करे, न अधम पुरुषों की संगति करे ।
अच्छे मित्रों की संगति करे, उत्तम पुरुषों की संगति करे ।

(७९)

धम्मपीठी सुखं सेति विप्पसम्भेन वेतसा ।

अरियण्वेदिते धम्मे सदा रमति पबिडतो ॥ ४ ॥

धर्म (२४) का पान करनेवाला प्रसन्नचित्त हो सुख-पूर्वक सोता है । परिक्लृप्त (जन) सदा आयों के बताये धर्म में रमण करता है ।

(८०)

सदकं हि नयन्ति नेत्तिका उद्युक्ता नमयन्ति ते जनं ।

वाकं नमयन्ति तच्छ्रुत्वा अन्तानं वमयन्ति परिकृता ॥५॥

(पानी) से जानेवाले पानी से जाते हैं, बाण बनानेवाले बाण नवाते हैं, बड़ई लकड़ी नवाते हैं और परिक्लृप्तजन अपना दमन करते हैं ।

(८१)

सेतो यथा एकमनो वातेन न समीरति ।

एवं निष्ठापसंसाहो न समिञ्जन्ति परिकृता ॥६॥

जिस प्रकार दोष पहाड़ हवा से नहीं जोलता, उसी प्रकार परिक्लृप्त निष्ठा और प्रशंसा से कम्पित नहीं होते ।

(८२)

यथापि रहदो गम्भीरो विप्यसज्जो अनाविलो ।

एवं ब्रह्मानि सुत्वा न विप्यसीदन्ति परिकृता ॥७॥

परिक्लृप्त जन धर्म को सुनकर अघाह, स्वच्छ स्थिर तात्त्व की तरह प्रसन्न चित्त होते हैं ।

(८३)

सम्बन्ध वे संपुरिषा यजन्ति

न कामकामा लपयन्ति सन्तो ।

सुखेन कुट्टा अथवा दुःखेन

न उच्चावर्चं परिकृता वस्सयन्ति ॥ ८ ॥

संपुरुष कहीं आसक्त नहीं होते । वह काम मोहों के लिए बात नहीं बनाते । उन्हें चारे दुःख हो चारे सुख, परिक्लृप्तजन विकार को प्राप्त नहीं होते ।

(८४)

न अत्तहेतुं न परस्स हेतुं

न पुत्तमिच्छे न धनं न रत्नं ।

न इच्छेय्य अधम्ममेन समिद्धिमत्तनो

स सीलवा पळयवा धम्मिको सिया ॥६॥

(अधर्म से) न अपने लिये पुत्र धन या राष्ट्र की इच्छा करे
(न दूसरे के लिये) । जो अधर्म से अधनी उन्नति नहीं चाहता,
वही सदाचारी है, महावान है, धार्मिक है ।

(८५)

अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारणामिनो ।

अथायं दूसरा पजा तीरमेवानुधावति ॥१०॥

जो पार पहुँचते हैं वह तो मनुष्यों में थोड़े ही हैं, बाकी आदमी
तो किनारे पर ही दौड़ते रहते हैं ।

(८६)

ये च जो धम्मवक्खाते धम्मो धम्मामुवत्तिनो ।

ते जना पारमेस्सन्ति मच्चुधेय्यं सुवुत्तरं ॥११॥

जो भली भाँति स्पष्ट कर दिये गये धर्म के अनुसार आचरण
करते हैं, वही धृष्ट्युपहीय दुस्तर (संसार सागर) को पार करेंगे ।

(८७)

कण्हं धम्मं विप्पहाय सुककं भावेय पण्डितो ।

अनोका अनोकं आगम्म विवेके पत्थ दूरमं ॥१२॥

(८८)

तत्राभिरतिमिच्छेय्य हित्वा कामे अकिञ्चनो ।

परियोवपेय्य अत्तानं चित्तक्लेसेहि पण्डितो ॥१३॥

पाप-कर्म को छोड़ परिहृत जन शुभ कर्म करे । घर से बे-घर हो दूर जा एकान्त-सेवन करे । काम भोगों को छोड़ सर्वस्व त्यागी बन वहीं रत रहने की इच्छा करे । परिहृत (जन) अपने चित्त के मेल को दूर करे ।

(८६)

येसं सम्बोधि-भङ्गोऽसु सम्मा चित्तं सुभाषिरा ।

आदान-पटिनिस्सग्गे अनुपादाथ ये रता ।

खीणासवा जुतीमन्तो ते लोके परिनिष्पुता ॥१४॥

जिनका चित्त सम्बोधि-भङ्गों में भली भाँति अभ्यस्त है, जो परिग्रह के परिष्कारपूर्वक अपरिग्रह में रत हैं, चित्त-मल से रहित ऐसे धृतिमान् (पुरुष) हो लोक में निर्वाण-प्राप्त हैं ।

७—अरहन्तवर्गो

(६०)

गच्छन्नो विसोकस्स विप्पमुत्तरस्स सव्वधि ।

सङ्कमग्गप्पहीयस्स परिताहो न विज्जति ॥१॥

जिसका मार्ग समाप्त हो गया, जो शोकरहित है, जो सर्वथा विद्वक्त है, जिसकी सभी प्रस्थियाँ क्षीय हो गईं, उसके लिये परिताप नहीं ।

(६१)

इप्पुल्लन्ति सतीमन्तो न निकेते रमन्ति ते ।

इंसा 'व पल्लं हित्वा ओकमोकं जइमिंति ते ॥२॥

स्मृतिमान् उद्योग करते हैं । वे घर में नहीं रहते । जिस प्रकार इस पुत्र जलाशय को छोड़ आते हैं उसी प्रकार वे घर को छोड़कर चले आते हैं ।

(६२)

येसं सन्निचयो तत्थि पे परिक्खमातभोजना ।

सुहवतो अनिमित्तो च विमोक्खो एस्स गोचरो ।

आकासे 'व सकुण्ठानं गतिं तेसं दुरजया ॥३॥

जो संन्यस नहीं करते, जिनको भोजन की उचित मात्रा प्राप्त है, शून्यता-स्वरूप तथा निमित्त-रहित निर्वाण जिनके गोचर हैं, उनकी गति उसी प्रकार अदृश्य है जिस प्रकार आकाश में पक्षियों की गति ।

(९३)

यस्मात्सदा परिकल्पीया आहारे च अनिस्सितो ।

सुख्यतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो ।

आकासे ष्व सक्कुत्तानं पवं तस्स दुरभया ॥४॥

मित्तके आश्रय क्षीण हो गये, जो आहार में आसक्त नहीं, इन्द्रियता स्वरूप तथा निमित्त-रहित नर्वाण मित्तके गोचर है, उसकी गति उसी प्रकार अशुभ है जैसे आकाश में पक्षियों की गति ।

(९४)

यस्सिन्निपायि समथं गतानि,

अस्सा यथा सारथिना सुवन्ता ।

पद्दीनसामस्स अनासवस्स,

देवापि तस्स पिह्वयन्ति ताविनो ॥५॥

सारथी द्वारा सुशिक्षित घोड़ों की तरह जिसकी इन्द्रियों शांत है, जिसका अभिमान नष्ट हो गया है, जो आश्रय-रहित है, ऐसे (पुण्य) की देवता भी लूटा करते हैं ।

(९५)

पठवीसमो नो विवज्जकत्ति इव्वलीलूपमो तादि सुख्यतो ।

रहद्दो ष्व अपेतकदमो संसारा न भवन्ति ताविनो ॥६॥

इन्द्रकील के समान (अचल) व्रतधारी उसी तरह सुख नहीं होता जैसे पृथ्वी । उस स्थिर पुण्य में उसी तरह संसार (मल) नहीं रहता जैसे कर्दम-रहित सरोवर में ।

(९६)

सन्तं अस्स मनं होति सन्ता वाधा च कम्म च ।

सम्मपक्कमाविमुत्तस्स उपसन्तस्स ताविनो ॥७॥

उपशान्त, ज्ञान द्वारा पूरी तरह मुक्त हुए उस स्थिर चित्त (पुरुष) का मन शान्त होता है, बांधी शान्त होती है ।

(६०)

अरसस्यो अरुतकम् च सन्धिच्छेदो च यो नरो ।

इतावकासो यन्तासो स वे सप्तमपोरिसो ॥८॥

जो (अन्ध-) मछ से रहित है, जिसने निर्वाण को जान लिया है, जिसने बन्धन को काट दिया है, जिनके (पुनर्जन्म की) शृंखलाएं नहीं, जिसने (विषय-भोग की) आशा को त्याग दिया है वही उत्तम पुरुष है ।

(६८)

गामे वा यदि वा रज्ज्वे निम्ने वा यदि वा यजे ।

यत्पथारहन्तो विहरन्ति तं भूमिं रामयोज्यकं ॥९॥

गाँव हो या जङ्गल, नीची भूमि हो या (ऊँचा) स्थल, वहाँ अर्हत लोग विहार करते हैं वही रामणीय-भूमि है ।

(६९)

रमणीयानि अरज्यानि यथ न रमते जनो ।

वीथरागा रमिस्सन्ति न ते कामगबेसिनो ॥१०॥

रमणीय वन वहाँ साधारण लोग रमण नहीं करते वहाँ वीथ-रागी रमण करते हैं, क्योंकि वह काम-भोगों के पीछे दीकनेवाले नहीं होते ।

८—सहस्रपद्यो

(१००)

सहस्रमपि चे वाचा अनर्थपदसंहिता ।

एक अर्थपदं सेव्यो यं सुखा उपसम्पत्ति ॥१॥

अनर्थकारी-पदों से युक्त सहस्रों वाक्यों से एक उपयोगी पद भेद है जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त हो ।

(१०१)

सहस्रमपि चे गाथा अनर्थपदसंहिता ।

एक गाथापदं सेव्यो यं सुखा उपसम्पत्ति ॥२॥

अनर्थकारी-पदों से युक्त सहस्रों गाथाओं से एक उपयोगी गाथा भेद है, जिसे सुनकर शान्ति हो ।

(१०२)

यो च गाथा सतं भासे अनर्थपदसंहिता ।

एक अर्थपदं सेव्यो यं सुखा उपसम्पत्ति ॥३॥

अनर्थकारी-पदों से युक्त कोई सौ गाथायें कहे । उनसे धर्म का एक पद भेद है, जिसे सुनकर शान्ति होती है ।

(१०३)

यो सहस्रं सहस्रेण सङ्गमे मानुसे जिने ।

एक न ज्ञेयमस्तानं स वै सङ्गमकुचको ॥४॥

एक आदमी संग्राम में लाखों आदमियों को जीत ले, और एक दूसरा अपने आपको जीत ले । यह दूसरा आदमी ही (सच्चा) संग्राम-विजयी है ।

(१०४)

अप्ता हवे जितं सेय्यो या चार्य इतरा पजा ।

अतदन्तस्स पोसस्स निब्व' सङ्ख्यतचारिणो ॥५॥

(१०५)

नेव देवो न गंधर्बो न मारो सह ब्रह्मना ।

जितं अपजितं कथिरा तथारूपस्स जन्तुनो ॥६॥

दूसरो को जीतने की अपेक्षा अपने को ही जीतना भेष्ट है । जिस आदमी ने अपने आपको दमन कर लिया, जो अपने को नित्य संघत रखता है; उस आदमी की जीत को न देवता, न गन्धर्व न ब्रह्मा सहित मार ही, हार में परिणत कर सकते हैं ।

(१०६)

मासे मासे सङ्खसेन यो यजेथ सतं समं ।

एकञ्च भावित्तानं मुहुत्तमपि पूजये ।

सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥७॥

एक आदमी सहस्र (दक्षिणा) के महीने महीनेसी वर्ष तक यज्ञ करे, और एक दूसरा आदमी किसी विशुद्ध-मनवाले का मुहुर्त्त भर भी स्तुति करे । सो वर्ष के हवन से वह मुहुर्त्त भर की पूजा ही भेष्ट है ।

(१०७)

यो च वस्ससतं जन्तु अग्निं परिचरे वने ।

एकं च भावित्तानं मुहुत्तमपि पूजये ।

सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥८॥

एक आदमी सौ वर्ष तक वन में रह करे, और एक दूसरा आदमी किसी परिशुद्ध मनवाले का मुहूर्त भर भी सत्कार करे। सौ वर्ष के रह से वह मुहूर्त भर की पूजा ही भोग है।

(१०८)

यं किंचि विद्वत् च हुतं च लोके,

संवच्छरं यजेथ पुण्यपेक्षो ।

सज्जन्ति सं न धनुर्भागमेति,

अभिवादानां सकृदुगतेषु सेव्यो ॥६॥

पुरुष की इच्छा से वर्ष भर जो यज्ञ और हवन करे, वह सब सरल चित्त पुरुष को किये गए अभिवादन के चौथे हिस्से के बराबर भी नहीं है। सरल-चित्त पुरुषों को किया गया अभिवादन ही भोग है।

(१०९)

अभिवादनसीतिस्स निरुचं बद्धापंचायिनो ।

चत्वारो यन्मा वदन्ति आयु वरयो सुखं व्रतं ॥१०॥

जो अभिवादनशील है, जो नित्य बड़ों की सेवा करता है उसकी आयु, वर्ष, सुख तथा व्रत में वृद्धि होती है।

(११०)

यो य वत्ससत् जीवे दुस्सीलो असमाहितो ।

एकाहं जीवितं सेव्यो सीलवन्तस्स मायिनो ॥११॥

दुराचारी और चित्त की एकाग्रता से हीन व्यक्ति के सौ वर्ष के जीवन से सदाचारी और ध्यानी का एक दिन का जीवन भी भोग है।

(१११)

यो य वत्ससत् जीवे दुष्पञ्चो असमाहितो ।

एकाहं जीवितं सेव्यो पट्ठ्यावन्तस्स मायिनो ॥१२॥

कुप्यञ्च और विष की एकाग्रता-हीन व्यक्ति के सौ वर्ष के जीवन से शवान् और प्यानी का एक दिन का जीवन भेद है ।

(११२)

यो च वस्ससत्तं जीवे कुसीतो हौनवीरियो ।

एकाहं जीवितं सेय्यो विरियमारभतो वल्लहं ॥१३॥

आलसी और अनुद्योगी के सौ वर्ष के जीवन से इकतापूर्वक उद्योग करनेवाले का एक दिन का जीवन भेद है ।

(११३)

यो च वस्ससत्तं जीवे अपस्सं उदयव्ययं ।

एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो उदयव्ययं ॥१४॥

उत्पत्ति और विनाश पर विचार न करते हुए सौ वर्ष तक जीने से उत्पत्ति और विनाश पर विचार करते हुए एक दिन का जीना भेद है ।

(११४)

यो च वस्ससत्तं जीवे अपस्सं अमत्तं पदं ।

एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो अमत्तं पदं ॥१५॥

अमृत पद (निर्वाण) को न देखते हुए सौ वर्ष तक जीने से अमृत-पद को देखते हुए एक दिन जीना भेद है ।

(११४)

यो च वस्ससत्तं जीवे अपस्सं धम्ममुत्तमं ।

एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो धम्ममुत्तमं ॥१६॥

उत्तम धर्म की ओर ध्यान न देते हुए सौ वर्ष के जीने से उत्तम धर्म की ओर ध्यान देते हुए एक दिन जीना भेद है ।

६—पापवग्गो

(११६)

अभिश्चरेय कल्लयाणे पापा धित्तं मिषारये ।

वन्धं हि करोतो पुब्बं पापस्मिं रमते मनो ॥ १ ॥

शुभ कर्म करने में जल्दी करे, पापों से मन को हटावे । शुभ कर्म करने में ढीला करने पर मन पाप में रत होने लगता है ।

(११७)

पापकळे पुरिसो कयिरा न सं कयिरा पुनपुनं ।

न तस्मिं ज्ञप्पं कयिराय सुक्खो पापरस उच्चो ॥ २ ॥

यदि पाप करे तो उसे फिर फिर न करे । उसमें रत न होने । पाप का संशय सुख का कारण होता है ।

(११८)

पुक्ककळे पुरिसो कयिरा कयिरावेनं पुनपुनं ।

तस्मिं ज्ञप्पं कयिराय सुक्खो पुक्कप्पस्स उच्चो ॥ ३ ॥

यदि शुभ कर्म करे, तो उसे फिर फिर करे । उसमें रत होने । पुण्य का संशय सुख का कारण होता है ।

(११९)

पापोपि पस्सति अत्रं थाव पापं न पक्कति ।

यदा न पक्कति पापं जय पापो पापानि पस्सति ॥ ४ ॥

पापी को भी तब तक भला लगता है, जब तक पाप फल नहीं देता । जब पाप फल देता है, तब उसे बुरा लगता है ।

(१२०)

भद्रोपि पस्सति पापं याव भद्रं न पप्पति ।

यदा च पप्पति भद्रं अथ भद्रो भद्राणि पस्सति ॥ ५ ॥

पुण्य करनेवाले को भी तब तक बुरा लगता है जब तक पुण्य फल नहीं देता । जब पुण्य फल देता है तब उसे अच्छा लगता है ।

(१२१)

मावमब्बेथ पापस्स न मत्तं आगमिस्सति ।

उद्विम्बुनिपातेन उद्वुम्भोपि पूरति ।

पूरति बालो पापस्स थोक-थोकम्पि आचिन् ॥ ६ ॥

‘मेरे पास न आयेगा’ सोच पाप की अवहेलना न करे । बूँद बूँद पानी गिरने से बड़ा भर जाता है । मूर्ख आदमी थोड़ा थोड़ा पाप इकट्ठा कर लेता है ।

(१२२)

मावमब्बेथ पुब्बस्स न मत्तं आगमिस्सति ।

उद्विम्बुनिपातेन उद्वुम्भोपि पूरति ।

पूरति धीरो पुब्बस्स थोक-थोकम्पि आचिन् ॥ ७ ॥

‘मेरे पास न आयेगा’ सोच पुण्य की अवहेलना न करे । बूँद बूँद पानी गिरने से बड़ा भर जाता है । धैर्यवान् थोड़ा थोड़ा करके पुण्य संकल्य कर लेता है ।

(१२३)

वाणिजो ऽथ भयं मरणां अप्पसत्थो महत्तनो ।

विसं जीविसुकामो ऽथ पापानि परिवज्जये ॥ ८ ॥

घोड़े काफिले और बहुत घनवाला व्यापारी मयशुक्त मार्ग को छोड़ देता है, अथवा जीने की इच्छावाला विष को छोड़ देता है, उसी प्रकार (मनुष्य) पापों को छोड़ दे ।

(१२४)

पाणिमिह चे वयो नास्स हरेद्य पाणिना विस ।

भाक्ष्यं विसमन्वेति नरिष पापं अकुर्वतो ॥ ६ ॥

यदि हाथ में पाप न हो, तो हाथ में विष लिया जा सकता है, क्योंकि भक्ष्य-रहित हाथ में विष नहीं चढ़ता । इसी प्रकार न करनेवाले को पाप नहीं लगता ।

(१२५)

यो अप्यदुद्वस्स नरस्स दुस्सति

सुद्वस्स पोसस्स अनङ्गणस्स ।

तमेव बालं पच्छेति पापं,

सुक्षुमो रजो पटिवासं' व सिचो ॥ १० ॥

जो शुद्ध, निर्मल, दोष-रहित मनुष्य को दोषी ठहराता है, उस दोषी ठहरानेवाले मूर्ख को ही पाप लगता है । जैसे हवा की विद्या के विरुद्ध फेंकी हुई सूक्ष्म धूलि फेंकनेवाले पर ही पड़ती है ।

(१२६)

गणभमेके उपपज्जन्ति निरयं पापकम्मिणो ।

सगगं सुगतिजो पण्णि, परिनिब्बन्ति अमासवा ॥ ११ ॥

कोई संसार में उत्पन्न होते हैं । पापों नरक में जाते हैं । शुभकर्मों स्वर्ग में जाते हैं, और जो निस्त के मर्कों से रहित हैं वे निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

(१२७)

न अन्तलिङ्गो न समुद्रमण्डो

न पर्वतानं विवरं पविस्त्र ।

न विज्जती सो जगत्तिप्पदेसो

यत्थद्विट्ठो मुण्ण्वेय्य पापकम्मा ॥१२॥

न आकाश में, न समुद्र की तह में, न पर्वतों के गह्वर में—संसार में कहीं कोई ऐसी जगह नहीं है जहाँ रहकर आदमी पाप-कर्म से बच सके ।

(१२८)

न अन्तलिङ्गो न समुद्रमण्डो

न पर्वतानं विवरं पविस्त्र ।

न विज्जती सो जगत्तिप्पदेसो

यत्थद्विट्ठं न प्ससहेय्यं मण्ण्वू ॥१३॥

न आकाश में, न समुद्र की तह में, न पर्वतों के गह्वर में—संसार में कहीं कोई ऐसी जगह नहीं जहाँ रहनेवाला मनुष्य से बच सके ।

१०—दण्डवर्गो

(१२६)

सर्वे तसन्ति दण्डस्त सर्वे भायन्ति मरुक्षुनो ।

अपानं उपमं कृत्वा न हनेय्य न पातये ॥ १ ॥

सभी दण्ड से डरते हैं, सभी को मृत्यु से भय लगता है । इसलिए सभी को अपने कैला समझ न किसी को मारे, न मरवाये ।

(१२७)

सर्वे तसन्ति दण्डस्त सर्वेऽपि जीवितं पितृ ।

अपानं उपमं कृत्वा न हनेय्य न पातये ॥ २ ॥

सभी दण्ड से डरते हैं, सभी को जीवन प्रिय है । इसलिए सभी को अपने कैला समझ न किसी को मारे, न मरवाये ।

(१२८)

सुखकामानि भूतानि वो दण्डेन न विहिंसति ।

अपानो सुखमेसानो पेच सो न लभते सुखं ॥ ३ ॥

सुख की चाह से वो सुख चाहनेवाले प्राणियों को दण्ड से मारता है, वह मरकर सुख नहीं पाता है ।

(१२९)

सुखकामानि भूतानि वो दण्डेन न हिंसति ।

अपानो सुखमेसानो पेच सो लभते सुखं ॥ ४ ॥

सुल की चाह से जो सुल चाहनेवाले प्राणियों को डबड़े से नहीं मारता, वह मरकर सुल पाता है ।

(१३३)

मा घोच फलसं कञ्चि पुत्ता पटिषट्थ्यु तं ।

हुक्खा हि सारम्मकया पटिदयवा पुत्सेय्यु तं ॥ ५ ॥

किसी से कठोर बचन मत बोलो, दूसरे तुमसे कठोर बचन बोलेंगे ।
दुर्बचन दुःखदायी होते हैं । बोलने से बदले में तुम दण्ड पाओगे ।

(१३४)

स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहसो यथा ।

एस पत्तोसि निम्माखं सारम्भो ते न विज्जति ॥ ६ ॥

यदि पीढ़े जाने पर (दूढ़े) कांसे की तरह अपने आपको निःशब्द रखो, तो तुमने निर्वाण पा लिया, तुम्हारे लिए कलह नहीं रहा ।

(१३५)

यथा दयहेन गोपालो गावो पाप्पेति गोचरं ।

एवं जरा व मरुदू व आपुं पाप्पेन्ति पाणिनं ॥ ७ ॥

जैसे ग्वाला गायों को डबड़े से चरगाह में ले जाता है, वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियों को आशु को ले जाते हैं ।

(१३६)

अथ पापानि कम्मानी करं वालो न भुक्कति ।

सेहि कम्मेहि तुम्मेवो अग्निदह्जोथ तप्पति ॥ ८ ॥

पाप-कर्म करता हुआ मूर्ख आदमी नहीं ब्रह्मता । पीछे बुद्धि अपने उन्हीं कर्मों के कारण आग से जलते हुए की तरह तपता है ।

(१३७)

यो दण्डेन अदण्डेषु अप्यदुदृष्टेऽसु दुस्सति ।
इसममकथतरं तानं सिप्यमेव निगच्छति ॥ ६ ॥

(१३८)

वेदनं पक्षं ज्ञानिं सरीरस्स ज्ञ मेदनं ।
मरुतं वापि आवाचं चित्तकक्षेपं च पापुणे ॥ १० ॥

(१३९)

राजतो वा उपस्सग्गं अकमक्खानं च दावहं ।
परिक्खणं च ज्ञातीनं भोगानं च पमज्जुरं ॥ ११ ॥

(१४०)

अथस्स अगारानि अग्गी कहति पावको ।
कायस्स भेदा दुप्पज्जो निरयं सोपपज्जति ॥ १२ ॥

जो दण्डरहितों को दण्ड से पीड़ित करता है वा दोषरहितों को दोष (लगाता है), उसे इन दस बातों में से कोई एक बात ही होती है—(१) तीव्र वेदना, (२) हानि, (३) जंग-मंग, (४) भारी बीमारी, (५) पागलपन, (६) राजदण्ड (७) कड़ी निन्दा, (८) रिश्तेदारों का विनाश, (९) भोगों का लोप, (१०) आग उसके घर को जला देती है । शरीर कुटने पर यह दुष्पथ नरक में उत्पन्न होता है ।

(१४१)

न जग्गपरिथा न जटा न पट्ठा
नानासक्यं अण्डित्तसायिका वा ।

रजोपज्जन्तं उक्खुट्टिकप्पधानं
ओवेन्ति मग्गं अवित्तिरस्यकङ्क ॥ १३ ॥

न नंगे रहने से, न जटा (चारण करने) से, न कीचड़ (लपेटने) से, न उपवास करने से, न कड़ी मूँषि पर सोने से, न धूल लपेटने से, न उकड़ूँ बैठने से ही उस आदमी की शुद्धि होती है, जिसकी आकां-
क्षायें बाकी हैं ।

(१४२)

अलङ्घतो चेपि ससं चरेय्य

सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी ।

सन्नेसु भूतेसु निधाय दण्डं

सो ब्राह्मणो सोसमणो स भिक्खु ॥१४॥

अलङ्घित होते हुये भी यदि उसका आचार्य सभ्य है, यदि वह शांत है, यदि वह दान्त है, यदि वह नियत ब्रह्मचारी है और यदि उसने सभी प्राणियों के प्रति दण्ड स्थापन दिया है, तो वही ब्राह्मण है, वही भ्रमण है, वही भिक्खु है ।

(१४३)

द्विरीनिसेधो पुरिसो कोचि लोकस्मिं विज्जति ।

वी निम्हं अप्पबोधसि अस्सो भद्दो कसामिद ॥१५॥

लोक में कुछ आदमी ऐसे होते हैं, जिन्हें उनकी अपनी लज्जा निषिद्ध-कर्म करने से रोक लेती है । जिस प्रकार उत्तम घोड़ा चाबुक को नहीं सह सकता, उसी प्रकार वह निम्हा को नहीं सह सकते ।

(१४४)

अस्सो यथा भद्दो कसानिविद्धो

आत्तापित्तो संवेगिनो भवाय ।

सद्दाम सीलेन च विरियेन च

समाधिना धम्मविनिष्खयेन च ।

सम्पन्नविष्णुआचरणा पतिस्सत्ता

पहस्सथ, दुक्खमिदं अनण्णकं ॥१६॥

चाहुक खाये उत्तम घोड़े की तरह प्रयत्न-शील और संवेग-युक्त बनो । श्रद्धा, शील, धीर्य, समाधि तथा धर्म-विनिश्चय से युक्त हो विद्यावान् और आचारवान् बन स्मृति की रख, उस महान् दुःख का अन्त करो ।

(१४५)

उदकं हि नयन्ति नेत्तिका

उसुकारा नमयन्ति तेजनं ।

वाहं नमयन्ति तच्छक्का

अन्तानं दमयन्ति सुच्चता ॥१७॥

(पानी) ले जाने वाले पानी ले जाते हैं, वायु बनानेवाले वायु नवाते हैं, बड़ई लकड़ी नवाते हैं और सुनती (जन) अपना दमन करते हैं ।

११—जरावग्गो

(१४६)

कोशु हासो किमानग्गो मिळ्ळं पज्जलिते सति ।

अग्गकारेण ओलद्धा पपीपं न गवेस्सथ ॥ १ ॥

एष कुछ जल रहा है, तुम्हें हँसी और आनन्द वृत्ता है । अग्ग-
कार से धिरे रहकर (भी) तुम पपीप को नहीं खोजते !

(१४७)

यस्स विपकत्तं विम्भं अरुकायं समुस्सितं ।

आतुरं बहुसङ्ख्यं यस्स नस्थि भुवं ठिति ॥ २ ॥

इस विविध शरीर को देखो, जो मर्त्यों से मुक्त है, जो फूला है,
जो रोगी है, जो नाना प्रकार के संकल्पों से मुक्त है, जिसकी स्थिति
निश्चित नहीं है ।

(१४८)

परिजिबयमिदं रूपं रोगनिबद्धं पमत्तुरं ।

मिज्जती पृथिसम्बेहो मरणात्तं हि जीवितं ॥ ३ ॥

यह शरीर जीर्ण शीर्ण है, रोग का घर है, मंगुर है, सड़कर भग्न
होनेवाला है, सभी जीवितों को मरना होता है ।

(१४९)

कानिमानि अपत्यानि अलाबूनेष सारदे ।

कापोयकानि अट्ठीनि तानि विस्वान का रसि ॥ ४ ॥

यह जो शरद्-काल की सी अप्रिय लोको की तरह या कबूतरों की सफेदी की सी सफेद हड्डियाँ हैं, उन्हें देखकर (शरीर में) किसी की क्या रति होगी ।

(१५०)

अहीनं नगरं कृतं संसलोहितलेपम् ।

यस्य अरा च मच्छू च मानो मच्छो च ओहितो ॥ ५ ॥

हड्डियों का नगर बनाया गया है, मांस और रक्त से लेपा गया है, उसमें बुढ़ापा, भय, अभिमान और आह छिपे हैं ।

(१५१)

जीरन्ति वे राजरथा सुविज्ञा

अथो सरीरस्य जरं उपेति ।

सत्तं च धम्मो न जरं उपेति

सन्तो हवे सच्चि पवेदयन्ति ॥ ६ ॥

सुविज्ञित राजरथ पुराने पड़ जाते हैं, शरीर जरा को प्राप्त हो जाता है; किन्तु बुद्धों का धर्म जरा को नहीं प्राप्त होता । सन्त-जन सत्पुरुषों से ऐसा कहते हैं ।

(१५२)

अप्पस्सुतार्थं पुरिसो बलिवहोष जीरति ।

मंसानि तस्स वद्धन्ति पक्खमा तस्स न वद्धति ॥ ७ ॥

अशानी पुरुष बैल की तरह बढ़ता जाता है । उसका मांस बढ़ता है, मछा नहीं ।

(१५३)

अनेकजातिसंसारं सम्भावित्सं अनिब्बिसं ।

गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥ ८ ॥

(१५४)

गहकारक ! विट्ठोसि पुन गेहं न काइसि ।

सक्खा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्कितं ।

विसङ्कारगतं चित्तं तयहानं ज्ञयमवमत्ता ॥ ६ ॥

गहकारक को छूँ छूँते हुए मैं अनेक जन्मों तक जगत्सार संसार में शोकाता रहा । बार बार जन्म लेना दुःख है । गहकारक ! तू दिखाई दे गया । अब फिर घर नहीं बना सकेगा । तेरी सभ कड़ियों टूट गईं । घर का शिखर बिखर गया । चित्त संस्कार-रहित हो गया । तुम्हारा भी का क्षय हो गया ।

(१५५)

अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योज्ज्वणे धनं ।

जिरण्णकौचाय भायन्ति स्त्रीणमच्छेष पल्लले ॥ १० ॥

जिन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया, जिन्होंने जवानी में धन नहीं कमाया, वह बिना मछली के तालाब में बूढ़े कौंच पक्षी की तरह ध्यान लगाते हैं ।

(१५६)

अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योज्ज्वणे धनं ।

सेवन्ति आपातिस्त्रीणां पुराणानि अतुत्थुनं ॥ ११ ॥

जिन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया, जिन्होंने जवानी में धन नहीं कमाया, वह बूढ़े वधुप की तरह पुरानी बातों पर पड़ताते हुए पड़े रहते हैं ।

१३—अज्ञानवधो

(१५७.)

अज्ञानं ये पितृ जह्या रक्षसेष्य तं सुरविस्मतं ।

सिद्धानामव्यतरं यामं पटिह्यगेय्य पण्डितो ॥ १ ॥

यदि अपने को प्यार करता हो, तो अपने को सँभाते रखे ।
पण्डित (जन) रात के तीन पहरो में से एक पहर जागता रहे ।

(१५८)

अज्ञानं एव पठमं पटिह्ये निवेसये ।

अव्यक्तमनुसासेय्य न किलिस्सेय्य पण्डितो ॥ २ ॥

जो उचित है उसे यदि पहले अपने करके पीछे दूसरे को उपदेश
करे, तो पण्डित (जन) को क्लेश न हो ।

(१५९)

अज्ञानं तया कथिरा यथाव्यक्तमनुसासति ।

सुदृष्टो वत दम्नेथ ज्ञाता हि किर दुदृष्टो ॥ ३ ॥

यदि पहले स्वयं वैसा करे, जैसा औरों को उपदेश देता है, तो
अपने को दमन कर सकनेवाला दूसरों का भी दमन कर सकता है ।
वस्तुतः अपने को दमन करना ही कठिन है ।

(१६०)

अज्ञा हि ज्ञानो नाथो को हि नाथो परो सिधा ।

अज्ञानाथ सुदृष्टेन नाथं लभति दुस्त्वम ॥ ४ ॥

आदमी अपना स्वामी आप है, दूसरा कौन स्वामी हो सकता है ?
अपने को दमन करने वाला दुर्लभ स्वामित्व को पाया है ।

(१६१)

अत्तनाव कतं पापं अत्तजं अत्तसम्भवं ।

अभिमम्वति दुम्मेधं वजिरं कम्ममयं मणिं ॥ ५ ॥

अपने से पैदा हुआ, अपने से उत्पन्न, अपने किया गया पाप
दुर्बुद्धि आदमी को वैसे ही पीकित करता है जैसे पाषाणमय-मणि को
वज्र ।

(१६२)

यस्सकच्चन्तदुस्सीस्थं मालुषा सालमिवोत्ततं ।

करोति सो तथत्तानं ययानं इच्छति विसो ॥ ६ ॥

शास्त्र वृक्ष पर फैली मालुषा लता की भाँति जिसका दुराचार फैला
है, वह अपने लिये वैसा ही करता है वैसे उसके शत्रु चाहते हैं ।

(१६३)

मुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च ।

यं वे हितञ्च साधुञ्च तं वे परमदुकरं ॥ ७ ॥

धुरे और अपने लिए अहितकर-कार्यों का करना आसान है;
लेकिन शुभ और हितकर कार्यों का करना बहुत कठिन है ।

(१६४)

यो सासनं अरहतं अरिवानं धम्मजीविनं ।

पटिक्कोसति दुम्मेधो विट्ठिं निस्साय पापिकं ।

फलानि कट्टकस्सेव असहज्झाय फुल्लति ॥ ८ ॥

भ्रान्त-सिद्धों का अनुयायी होने के कारण वो दुर्बुद्धि धर्मजीवी
आर्य अर्हत्तों के शासन की निन्दा करता है वह बौद्ध के फल की भाँति
आत्म-हत्या के ही क्षिप फलता है ।

(१६५)

अक्षयनाथ कर्तं पापं अक्षयना संकलित्सति ।

अक्षयना अक्षयं पापं अक्षयनाथ विसृज्यति ॥

सुखि असुखि पञ्चवर्षं नश्यो अक्षयं विसोषये ॥ ६ ॥

अपना किया पाप अपने को मलिन करता है, अपना न किया पाप अपने को शुद्ध करता है। प्रत्येक आदमी की शुद्धि-अशुद्धि अलग-अलग है। एक आदमी दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता।

(१६६)

अक्षयस्थं परस्थेन बहुनापि न हापये ।

अक्षयस्थमभिक्षाय सक्षयपुतो सिया ॥१०॥

परार्थ के लिये आत्मार्थ को बहुत व्यादाह भी न छोड़े। आत्मार्थ को जानकर सक्षय में लगे।



१३—लोकवर्गो

(१६७)

हीनं धम्मं न सेवेय्यं, प्रमादेन न खण्डसे ।
 भिक्षादिद्विं न सेवेय्यं न सिखा लोक-वद्दनो ॥ १ ॥
 पाप-कर्म न करे । प्रमाद से न रहे । झूठी वारणा न रखे और
 आयागमन को बढ़ानेवाला न बने ।

(१६८)

उत्तिष्ठे नत्पमज्जेय्यं धम्मं सुचरितं चरे ।
 धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परन्धि च ॥ २ ॥
 उठे, आलसी न बने और सुचरित-धर्म का आचरण करे । धर्म-
 चारी इस लोक और परलोक में सुख से रहता है ।

(१६९)

धम्मं चरे सुचरितं न तं दुक्कचरितं चरे ।
 धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परन्धि च ॥ ३ ॥
 सुचरित-धर्म का आचरण करे, दुश्चरित-कर्म न करे । धर्मचारी
 इस लोक और परलोक में सुख से रहता है ।

(१७०)

यथा बुद्धुत्तकं पस्से वया पस्से मरीचिकं ।
 एवं लोकं अवेवस्सत्तं मच्चुराजा न पस्सति ॥ ४ ॥

आदमी जैसे जैसे बुलबुले को देखता है, जैसे (मरु-) मरीचिका को देखता है, वैसे ही जो (पुरुष), लोक को देखता है, उसकी ओर यमराज (आँख उठाकर) नहीं देखता ।

(१७१)

एष पस्सथिमं लोकं चिरां राजरशूपमं ।

यत्थ धाला विसीदन्ति, नत्थि सङ्को विजानत्तं ॥ ५ ॥

आओ, विचित्र राजरस के समान इस लोक को देखो, जिसमें बहुत जन आसक्त होते हैं; शानी आसक्त नहीं होते ।

(१७२)

यो च पुब्बे पमज्झित्वा पच्छा सो नप्पमक्खति ।

सोऽयं लोकं पमासेति अन्ना मुत्तोव चन्दिमा ॥ ६ ॥

जो पहले भूल करके (भी) फिर भूल नहीं करता वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भाँति इस लोक को प्रकाशित करता है ।

(१७३)

यस्स पापं कत्तं कम्मं कुसलेन पिणीयति ।

सोऽयं लोकं पमासेति अन्ना मुत्तोव चन्दिमा ॥ ७ ॥

जो अपने किये पाप-कर्म को कुशल कर्म से ढक देता है, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भाँति इस लोक को प्रकाशित करता है ।

(१७४)

अन्धभूतो अयं लोको तनुकेत्य विपस्सति ।

सङ्कुत्तो जालमुत्तोव अप्पो सग्गाय गच्छति ॥ ८ ॥

यह संसार अन्धा है, थोड़े-थोड़े देखते हैं । जाल से मुक्त पक्षियों की तरह थोड़े ही लोग स्वर्ग को जाते हैं ।

(१७५)

हंसादिष्वपने वन्ति आकासे यन्ति इन्द्रिया ।

नीयन्ति वीरा लोकम्हा जेत्वा मारं सवाहिणिं ॥६॥

हंसा आकाश में उड़ते हैं, शूडि-बल-प्राप्त आकाश-मार्ग से जाते हैं और सेना-सहित मार को जीत देने पर वीर-जान लोक से (निर्वाण को) ले जाते जाते हैं ।

(१७६)

एकं धर्मं अतीतस्व मुसावाविस्व वन्तुनो ।

चित्तिव्यापारलोकस्व नत्वि पापं अकारिबं ॥१०॥

जो एक (इह) नियम को लॉन गया है, जो भूट बोलनेवाला है और जिसको परलोक का स्वागत नहीं, वह आदमी किसी भी पाप-कर्म को कर सकता है ।

(१७७)

न [वे] कदरिवा देवलोकं वजन्ति

बाला ह्वे नप्पसंसन्ति दानं ।

धीरो च दानं अनुमोदमानो

तेनेव सो होति सुखी परत्थ ॥११॥

कज्जल लोग देवलोक नहीं जाते, मूर्ख लोग दान की प्रशंसा नहीं करते; धैर्यवान् आदमी दान का अनुमोदन कर उसी (कर्म) से परलोक में सुखी होता है ।

(१७८)

एवमवा एकरब्बेन सग्गस्स गमनेन वा ।

सुखल्लोकाधिपस्येन सोतापत्तिफलं वरं ॥१२॥

अकेले पृथ्वी का राजा होने से, स्वर्ग जाने से, सभी लोकों का अधिपति होने से भी अधिक भेद है सोतापत्ति-फल ।

१४—बुद्धवर्गो

(१७६)

यस्स जितं नावजीयति

जितमस्स नो याति कोचि लोके ।

तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पवेन नेस्सथ ॥ १ ॥

जिसकी जीत हार में परिवर्त नहीं हो सकती, जिसकी जीत को लोक में कोई नहीं पहुँचता, उस अपद अनन्त-ज्ञानी बुद्ध को तुम किस उपाय से आशिर कर सकोगे ।

(१८०)

यस्स जालिनी विसत्थिका

तण्णा नत्थि कुदिञ्चि नेत्थवे ।

तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पवेन नेस्सथ ॥ २ ॥

जिसे जाल फैलानेवाणी विषयकभी दृष्ट्या लोक में कहीं भी नहीं हो जा सकती, उस अपद अनन्त-ज्ञानी बुद्ध को तुम किस उपाय से आशिर कर सकोगे ।

(१८१)

ये आणपसुत्ता धीरा नेक्कम्मूपसमे रता ।

देवापि तेसं पिहयन्ति सम्बुद्धानं सत्तीमत्तं ॥ ५ ॥

जो धीर हैं, ध्यान में रत हैं, त्याग और उपशमन में लगे हैं, उन स्मृतिमान् बुद्धों की देवता भी प्रशंसा करते हैं ।

(१८२)

किच्छो मनुत्सपटिलाभो किच्छं मच्चानं जीवितं ।

किच्छं सद्धम्मसवयं किच्छो बुद्धानं उप्पादो ॥ ४ ॥

मनुष्य-योनि मुश्किल से मिलती है, मनुष्य-जीवन मुश्किल से बना रहता है, उद्धर्म का पुनरा मुश्किल से मिलता है और बुद्धों का जन्म मुश्किल से होता है ।

(१८३)

सज्जपापस्स अकरोणं कुसलस्स उपसम्पदा ।

स-विश्वपरियोद्वपनं, एतं बुद्धानं सासनं ॥ ५ ॥

सब पापों का न करना, शुभ कर्मों का करना, विश्व को परिशुद्ध रखना यही है बुद्धों की शिक्षा ।

(१८४)

जाली परमं तपो तित्तिकला,

निष्कारणं परमं वदन्ति बुद्धा ।

नहि पण्डितो पश्यधात्ती,

समयो होति परं विहेठधम्तो ॥ ६ ॥

शान्ति और सहन-शीलता परं तप है, बुद्ध निर्वाण को परं श्रेष्ठ कहलाते हैं । वृत्ते का धात करनेवाला प्रमत्त नहीं होता । वृत्ते को पीका न देने वाला ही धम्मज्ञ होता है ।

(१८५)

अनूपधादो अनूपधातो पात्तिमोक्खे च संघरो ।

मत्तकम्भुता च मत्तस्मिं पम्भक्य सयनासनं ॥

अधिक्षित्तो च आयोगो एतं बुद्धानं सासनं ॥ ७ ॥

किसी की निन्दा ॥ करना, किसी का घात न करना, भिक्षु-नियमों का पालन करना, उचित भाषा में प्रोजन करना, एकान्त में सोना-बैठना, चित्त को योग-अभ्यास में लगाना—यही है मुद्रों की शिक्षा ।

(१८६)

न कदाप्यावस्तेन तित्ति कामेषु बिष्जति ।

अप्यस्माद्वा दुःखता कामा इति किञ्चाय पतिवतो ॥ ८ ॥

(१८७)

अपि दिग्बेसु कामेषु रतिं सो नाधिगच्छति ।

तद्वद्वस्यरतो होति सम्मासम्बुद्धसावको ॥ ९ ॥

कार्पाप्यों की वर्षा होने से भी मनुष्य की कामनायों की तृप्ति नहीं होती । सभी काम-भोग आल-स्वादवाले हैं, दुःखद हैं; यह जानकर परित्त (जन) दिव्य काम-भोगों में भी रति नहीं करता और सम्बुद्ध का शिष्य तृष्णा के नाश करने में लग्न रहता है ।

(१८८)

बहुं वे सरणं यन्ति पञ्चतानि वनानि च ।

आरामरुक्मवेत्यानि मनुस्का भयतस्त्रिजा ॥ १० ॥

(१८९)

नेतं श्री सरणं क्षेमं नेतं सरणमुत्तमं ।

नेतं सरणमागम्य सन्बुद्धसा पमुञ्जति ॥ ११ ॥

मय के मारे मनुष्य पर्वत, घन, उद्यान, वृक्ष, चैत्य आदि बहुत चीजों की शरण ग्रहण करते हैं । लेकिन यह शरण ग्रहण करना कल्याण-कर नहीं, उत्तम नहीं । इन शरणों को ग्रहण करके कोई मारे के सारे दुःख से मुक्त नहीं हो सकता ।

(१६०)

यो च दुःखञ्च धम्मञ्च सङ्गञ्च सरणं गतो ।
अचारि अरियसत्त्वानि सम्मप्यठ्ठमाय पस्सति ॥१२॥

(२६१)

दुक्खं दुक्खसमुत्पादं दुक्खस्स च अतिककमं ।
अरियसङ्गठञ्चिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिणं ॥१३॥

(१६२)

एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं ।
एतं सरणमागम्य सकम्बदुक्खा पमुक्कवति ॥१४॥

जो बुद्ध, धर्म, संघ की शरण ग्रहण करता है, जो चारों आर्य-सत्त्वों को भली प्रकार प्रज्ञा से देखता है—(१) दुःख, (२) दुःख की उत्पत्ति, (३) दुःख का विनाश, (४) दुःख का उपशमन करनेवाला आर्य-सङ्घागिक-मार्ग—उसका यह शरण ग्रहण करना कल्याण-कर है, वही शरण उत्तम है। इस शरण को ग्रहण करके (मनुष्य) सब दुःखों से मुक्त होता है।

(१६३)

दुल्लभो पुरिसाकम्भो न सोसम्बस्थ जायति ।
यस्य सो जायती बीरो तं कुलं सुसमेवति ॥१५॥

मेढ्र पुत्र का जन्म दुर्लभ है, यह सब जगह पैदा नहीं होता। जिस कुल में यह धीर पैदा होता है, उस कुल में दुःख की वृद्धि होती है।

(१६४)

सुखो बुद्धानं जप्पादो सुखा सज्जन्मवेसना ।
सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो ॥१६॥

मुद्रों का पैदा होना मुक्त-कर है, सद्धर्म का उपदेश मुक्त-कर है, संघ में एकता का होना मुक्त-कर है, और मुक्त-कर है मिलकर तप करना ।

(१६५)

पूजारेहे पूजयतो मुने यदि व साधके ।

पपञ्चसमतिष्कन्ते तिवणसोकपरिहरे ॥१७॥

(१६६)

ते ताविसे पूजयतो निव्युते अकुतोभये ।

न सक्का पुद्गलं संसातुं इमेत्तमिति केनपि ॥१८॥

पूजनीय मुद्रों अथवा उनके शिष्यों—जो (संसार के) प्रपञ्च से छूट गये हैं, जो शोक भय की पार कर गये हैं—की पूजा के, या उन जैसे मुक्त और निर्भय (पुरुषों) की पूजा के पुण्य के परिमाण को “इतना है” करके कोई नहीं बता सकता ।

१५—सुखवन्धो

(१६७)

सुसुखं वत ! जीवाम वेरिनेसु अवेरिनो ।

वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो ॥ १ ॥

बैर करनेवाले मनुष्यों में अवैरी बने रहकर हम सुख पूर्वक जीते हैं । वैरी मनुष्यों में हम अवैरी बनकर विचरते हैं ।

(१६८)

सुसुखं वत ! जीवाम आतुरेसु अनातुरा ।

आतुरेसु मनुस्सेसु विहराम अनातुरा ॥ २ ॥

रोगी मनुष्यों में रोग-रहित होकर हम सुख पूर्वक जीते हैं । रोगी मनुष्यों में हम स्वस्थ बनकर विचरते हैं ।

(१६९)

सुसुखं वत ! जीवाम उत्सुकेसु अनुत्सुका ।

उत्सुकेसु मनुस्सेसु विहराम अनुत्सुका ॥ ३ ॥

आसक्त मनुष्यों में अनासक्त बने रहकर हम सुख पूर्वक जीते हैं । आसक्त मनुष्यों में हम अनासक्त बनकर विचरते हैं ।

(२००)

सुसुखं वत ! जीवाम पेत्तं नो नत्थि किञ्चन ।

पीतिमक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा ॥ ४ ॥

किन हम लोगों के पास कुछ नहीं, अहो ! हम सुख पूर्वक जीते हैं ।
हम आभास्वर देवताओं की तरह प्रीति का ही भोगन करके रहेंगे ।

(२०१)

अथ वेरं पसवति दुःखं सेति पराजितो ।

उपसन्तो सुखं सेति द्विषा जयपराजयं ॥ ५ ॥

जय से वैर पैदा होता है, पराजित दुःखी रहता है । जय-पराजय
दोनों को छोड़कर शान्त (-मनुष्य) सुख पूर्वक जीता है ।

(२०२)

नस्थि रागसमो अग्नि, नस्थि दोससमो कृत्ति ।

नस्थि सम्पदसमा दुःखा नस्थि सन्तिपरं सुखं ॥ ६ ॥

राग के समान अग्नि नहीं, द्वेष के समान मल नहीं । भौतिक-सम्पदों
(के सम्प्राप्य) के समान दुःख नहीं । शान्ति से बचकर सुख नहीं ।

(२०३)

निषण्णा परमा रोगा, सङ्गारा परमा दुःखा ।

एतं भत्वा पथाभूतं निर्वाणं परमं सुखं ॥ ७ ॥

भूत सबसे बड़ा रोग है, संस्कार परम-दुःख है, इस पथार्थ (वात)
जाननेवाले को निर्वाण परम सुख है ।

(२०४)

आरोग्य परम लाभ सन्तुष्टीपरम धर्म ।

विस्वाद्यपरमा व्याती निर्वाणं परमं सुखं ॥ ८ ॥

नीरोग रहना परम लाभ है, सन्तुष्ट रहना परम धर्म, विस्वाद्य सबसे
बड़ा धर्म है, निर्वाण सबसे बड़ा सुख ।

(२०५)

पवित्रेकरसं पीत्वा रसं उपसमस्त च ।

निहरो होति निष्पापो धम्मपीतिरसं पिबं ॥ ६ ॥

एकान्त (-वास) तथा शान्ति के रस को पान कर आदमी निहरो होता है और धर्म के प्रेम रस को पान कर निष्पाप ।

(२०६)

साधु दस्सनमरिचानं सन्निवासो सदा सुखो ।

अदस्सनेन बालानं निवृत्तमेव सुखी सिया ॥ १० ॥

सत्पुरुषों का दर्शन करना अच्छा है, सत्पुरुषों की संगति सदा सुखकर है; और मूर्खों का दर्शन न होने से ही (आदमी) सदा सुखी रहता है ।

(२०७)

बालसंगतचारी हि दीधमद्वयानं सोचति ।

बुक्खो बालेहि संवासो अमिच्छेनेव सम्बदा ॥

धीरो च सुखसंवासो आतीनं 'व समागमो ॥ ११ ॥

मूर्खों की संगति करनेवाला दीर्घ काल तक शोक करता है, मूर्खों की संगति शत्रु की संगति की तरह सदा दुःखदायी होती है; और धैर्यवानों की संगति बन्धुओं की संगति की तरह सुखदायी होती है ।

(२०८)

तस्मा हि धीरं च पक्कमञ्च बहु-सुखं च

धीरप्पसीलं वतक्कन्तमरियं ।

तं तादिसं सत्पुरिसं सुमेधं

अजेय नक्खत्तपथं'व चन्दिमा ॥ १२ ॥

इसलिए धीर, प्राज्ञ, बहुभूत, उद्योगी, नती आर्य तथा सुख सत्पुरुष की संगति करे; जैसे चन्द्रमा नक्षत्र पथ का (सेवन करता है) ।

१६— पियवग्गो

(२०६)

अयोमे दुल्लमत्तानं योगस्मिञ्च अयोजयं ।

अत्थं हित्वा पियवगाही पिहेत'त्तानुयोगिनं ॥ १ ॥

अपने को उचित कर्म में न लगा, अनुचित में लगा, चर्च को छोड़कर मिय के पीछे भागनेवाले को आत्मानुयोगी की स्तुहा करनी होती है ।

(२१०)

मा पियेहि सभागच्छि अप्पियेहि कुदाचनं ।

पियामं अवस्सनं दुप्पलं अप्पियामन्न वस्सनं ॥ २ ॥

मियों का साथ करो और अमियों का साथ कभी न करो । मियों का अवर्तन दुःखद होता है और अमियों का वर्तन ।

(२११)

तस्मा पिथं न कयिराम पियापायो हि पापको ।

गम्या तेसं न विज्झन्ति येसं नत्थि पियात्पियं ॥ ३ ॥

इसलिए (किसी को) मिय न बनावे, मिय का नाश नुरा (लगावा) है; उनके (दिल में) गोंठ नहीं होती जिनके मिय-अमिय नहीं होते ।

(२१२)

पियतो जायते सोको पियतो जायते मयं ।

पियतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो मयं ? ॥ ४ ॥

मित्र से शोक उत्पन्न होता है, मित्र से भय । जो मित्र से मुक्त है, उसे शोक नहीं, भय कहाँ से होगा ?

(२१३)

प्रेमतो जायते सोको प्रेमतो जायते भयं ।

प्रेमतो विप्यमुत्तस्त नरिथ सोको कुतो भयं ? ॥ ५ ॥

प्रेम से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय । प्रेम से मुक्त है, उसे शोक नहीं, भय कहाँ से होगा ?

(२१४)

रतिया जायते सोको रतिया जायते भयं ।

रतिया विप्यमुत्तस्त नरिथ सोको कुतो भयं ? ॥ ६ ॥

रग से शोक उत्पन्न होता है, रग से भय । जो रग से मुक्त है, उसे शोक नहीं, भय कहाँ से होगा ?

(२१५)

कामतो जायते सोको कामतो जायते भयं ।

कामतो विप्यमुत्तस्त नरिथ सोको कुतो भयं ? ॥ ७ ॥

काम (मोग) से शोक उत्पन्न होता है, काम से भय । जो काम से मुक्त है, उसे शोक नहीं, भय कहाँ से होगा ?

(२१६)

तण्हाय जायते सोको तण्हाय जायते भयं ।

तण्हाय विप्यमुत्तस्त नरिथ सोको कुतो भयं ? ॥ ८ ॥

तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है, तृष्णा से भय । जो तृष्णा से मुक्त है, उसे शोक नहीं, भय कहाँ से होगा ?

(२१७)

सीलवस्सनसम्पन्नं धम्मदुटं सञ्ज्वावादिर्भ ।

आत्तनो कम्म कुम्मानं तं जनो कुरुते पियं ॥ ९ ॥

जो सीलवान् है, जो विद्वान् है, जो धर्म में स्थित है, जो सत्यवादी है, जो अपने काम को करनेवाला है, ऐसे (साधु) को लोग प्यार करते हैं ।

(२१८)

अण्डजातो अणकस्ताते मगसा च कुटो सिया ।

कामेसु च अप्पटिवद्धचित्ते उद्धसोतीति बुधति ॥ १० ॥

जिसको निर्वाण की अभिलाषा है, जिसने उसे मन से स्पर्श किया है, जिसका चित्त काम-भोगों में संलग्न नहीं है, वह ऊर्ध्व सोता कहलाता है ।

(२१९)

चिरप्पवासिं पुरिसं पुरतो सोत्थिमागतं ।

आतिमिस्ता सुहजा च अभिनन्दन्ति आगतं ॥ ११ ॥

(२२०)

तथैव कतपुब्बम्पि अस्मा लोका परं गतं ।

पुब्बामि पतिगणहन्ति पियं आसीथ आगतं ॥ १२ ॥

चिरकाल तक विदेश में रहकर सकुशल लौटने पर शक्ति, बन्धु और मित्र उसका अभिनन्दन करते हैं, इसी प्रकार पुण्य (-कर्मा) पुण्य के इस लोक से परलोक जाने पर, उसके पुण्य उसका स्वागत करते हैं, जैसे आति-बन्धु अपने मित्र व्यक्ति का ।

१७—कोपवग्गो

(२११)

कोपं जहे विप्पजहेप्य भानं

सच्चञ्जोअनं सच्चमत्तिककमेप्य ।

तं नाम-रूपस्मिं असज्जमानं

अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा ॥ १ ॥

कोप को छोड़ दे, अभिमान को छोड़ दे, सब बन्धनों को पार कर जाय—देते आदमी को जो नाम-रूप में आसक्त न हो, जो परिग्रह-रहित हो दुःख नहीं सताते ।

(२२२)

यो वे उप्पत्तिं कोपं रथं भन्तं च धारये ।

तमहं सारिथं अमि रस्मिग्गाहो इतरो जनो ॥ २ ॥

जो आये कोप की उसी तरह रोक ले, जैसे कोई मार्ग-भ्रष्ट रथ को; उस आदमी को मैं (असली) सारथी कहता हूँ, दूसरे लोग तो केवल रस्सी पकड़ने वाले हैं ।

(२२३)

अककोपेन जिने कोपं असाधुं साधुना जिने ।

जिने कहरिथं दानेन सत्तयेन अल्लिकवादिनं ॥ ३ ॥

कोप को अकोप से, बुराई को भलाई से, कंजुस-पन को दान से और मूठ को सत्य से जीते ।

(२२४)

सत्त्वं भयो न कुर्वमेत्य, वज्रा' प्यस्मिन्नि वाचितो ।

पतेहि सीहि ठानेहि गच्छे देवान सन्तिके ॥ ४ ॥

सत्य बोले, कोप न करे, मँगने पर योद्धा रहते भी वे । इन तीन बातों के करने से आदमी देवताओं के पास जाता है ।

(२२५)

अहिंसका ये मुनयो निष्कं कायेन संयता ।

ते यन्मि अकचुतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे ॥ ५ ॥

जो मुनि (जन) अहिंसक हैं, जो शरीर से सदा संयत रहते हैं वे उध पतन-रहित स्थान को प्राप्त होते हैं, जहाँ जाने पर शोक नहीं होता ।

(२२६)

सदा आगरमाभानं आहोरसानुसिक्खितं ।

निष्कार्यं अभिमुत्थानं अर्थं गच्छन्ति आसव ॥ ६ ॥

जो सदा आगरक रहते, जो रात-दिन सीखने में लगे रहते हैं, जो निर्वास-प्राप्ति की ओर प्रयत्नशील हैं, उनके आश्रय अस्त हो जाते हैं ।

(२२७)

पोराणमेतं अतुल ! नेसं अकजतनामिव ।

निन्दन्ति तुण्डीमासीनं निन्दन्ति बहुभाषिनं ।

सितभाषिणन्धि मन्दन्ति

नरिय लोके अनिन्दितो ॥ ७ ॥

हे अतुल ! वह पुरानी बात है, वह आज की नहीं । चुप बैठे रहनेवाले की भी निन्दा होती है, बहुत बोलनेवाले की भी निन्दा होती है, कम बोलनेवाले की भी निन्दा होती है, दुनिया में ऐसा कोई नहीं जिसकी निन्दा न हो ।

(२२८)

न चाहु न च भविस्सिति न चेतर्हि विज्जति ।

एकन्तं निन्दितो पोसो एकन्तं वा पसंसितो ॥ ८ ॥

ऐसा आदमी जिसकी या तो विस्कुल प्रशंसा ही प्रशंसा होती हो या निन्दा ही निन्दा; न हुआ, न है, न होगा ।

(२२९)

सक्ये विष्णू पसंसन्ति अनुषिण सुवे सुवे ।

अच्छिद्वक्खि मेघाणि पम्भासीलसमाहितं ॥ ९ ॥

(२३०)

नेकसं जम्बोनदस्सेव को तं निम्बितुमरहति ।

देवापि तं पसंसन्ति ब्रह्मणाऽपि पसंसितो ॥ १० ॥

जिस आदमी की प्रशंसा विश्व लोग सोच विचार कर रोज रोक करें, उस दोष-रहित मेघावो, प्रवाही शील से युक्त, जम्बूनद की अम्पली के समान आदमी को निन्दा कौन कर सकता है । देवता भी उसकी प्रशंसा करते हैं, और ब्रह्मा द्वारा भी वह प्रशंसित होता है ।

(२३१)

कायप्पकोपं रक्खेय्य कायेन संयुतो सिया ।

कायदुरुचरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे ॥ ११ ॥

काय की संजलता से बचा रहे । काय का संयम रखे । शारीरिक दुरुचरित को छोड़कर शरीर से सदाचरण करे ।

(२३२)

वचीपकोपं रक्खेय्य वाचाय संयुतो सिया ।

वचीदुरुचरितं हित्वा वाचाय सुचरितं चरे ॥ १२ ॥

बाणी की चंचलता से बचे । बाणी का संयम रखले । बाणी का
दुरुचरित्र छोड़कर बाणी का सदाचरण करे ।

(२३३)

मनोपकोपं रक्षेत्य मनसा संयुतो सिया ।

मनोदुरुचरित्रं हिक्त्वा मनसा सुचरितं चरे ॥१३॥

मन की चञ्चलता से बचे । मन का संयम रखे । मन का दुरुच-
रित्र छोड़कर मानसिक सदाचरण करे ।

(२३४)

कायेन संयुता भीरा अथो वाचाय संयुता ।

मनसा संयुता भीरा ते वे सुपरिसंयुता ॥१४॥

जो काम से संयत है, जो वाणी से संयत है, जो मन से संयत है,
वे ही अश्वी तरह से संयत कहे जा सकते हैं ।

१८—मलवम्भो

(२३५)

परशुपत्नासोऽपि दानिसि, यमपुरिसापि च ते उपहिता ।

चप्योगमुक्ते च तिष्ठसि पाथेय्यम्पि च ते न विज्यति ॥ १ ॥

इस वक्तू पीले-पत्ते के समान है, तेरे पास यम-पूत आ लगे हैं, तेरे प्रमाण की तैयारी है; और तेरे पास पाथेय भी नहीं है ।

(२३६)

सो करोहि दीपमन्तनो खिपं दायम पविक्तो भव ।

निद्रान्तमलो अनङ्गयो विब्धं अरियभूमिमेहिसि ॥२॥

इसलिए अपना दीप बना, अस्दी उपयोग करके पविक्त बन। मल-रहित, दोष-रहित होकर तू दिव्य आर्य-भूमि को प्राप्त करेगा ।

(२३७)

उपनीतवमो च दानिसि

सम्पयातोसि यमस्त सन्तिके ।

वासोपि च ते नस्ति अन्तरा

पाथेय्यम्पि च ते न विज्यति ॥ ३ ॥

तेरी आयु समाप्त हो गई, तू यम के पास पहुँच गया है, तेरे लिए रास्ते में निवास-स्थान भी नहीं है और तेरे पास पाथेय भी नहीं है ।

(२३८)

लो करोहि दीपमस्तनो खिप्प वायम पखित्तो भव ।

निद्वस्तमलो अनङ्गणो न पुन जातिजरं उपेहिसि ॥ ४ ॥

इसलिए अपना दीप बना जल्दी उद्योग करके पखित्त बन, माल-रहित, दोष-रहित होकर तू जन्म और बुढ़ापे के बन्धन में नहीं पड़ेगा ।

(२३९)

अनुपुष्पेन मेधावी भोक्योकं खणे खणे ।

कम्मरो रत्नतस्सेव निद्वमे मलमस्तनो ॥ ५ ॥

जिस प्रकार सुनार चाँदी के मल को दूर करता है, उसी प्रकार मेधावी (पुरुष) प्रतिपक्ष पोछा-पोछा करके अपने दोषों को दूर करे ।

(२४०)

अथसाध मलं समुद्धृतं

तदुद्धृत्य तमेव आवृत्ति ।

एवं अतिघोनचारिणं

सककम्मानि नयन्ति बुगर्गति ॥ ६ ॥

लोहे से उत्पन्न मोर्चा लोहे से पैदा होकर लोहे को ही खा झलता है । उसी प्रकार अति चञ्चल (मनुष्य) के अपने ही कर्म उसे बुर्गति को ले जाते हैं ।

(२४१)

असकम्मायमला मग्गा अनुदानमला घरा ।

मलं वयणस्स कोसव्जं पमावो रक्खतो मलं ॥ ७ ॥

आवृत्ति न करना (वेद-) मन्त्रों का मल (= मोर्चा) है, मरम्मत न करना घरों का मल (= मोर्चा) है, आलस्य (शरीर के) सौन्दर्य का मल (= मोर्चा) है और असावधानी पहरेदार का मल (= मोर्चा) है ।

(२४२)

मल्लिखिया दुश्चरितं मच्छेरं वृत्तो मलं ।

मला वे पापका धम्मा अस्मिं लोके परमिह च ॥ ८ ॥

दुश्चरित होना क्री का मोर्चा है, कंजूस होना दाता का मोर्चा है,
और पाप-कर्म इस लोक तथा परलोक में मोर्चा है ।

(२४३)

ततो मला मलतरं अविव्जा परमं मलं ।

एतं मलं पहात्वा न निम्मला होथ भिक्खवो ॥ ९ ॥

लेकिन इन सब मलों से बड़कर मल है—अविद्या । भिक्खुओं !
इस मल को छोड़कर निर्मल बनो ।

(२४४)

सुखीवं अहिरीकेन काकसूरेन धंसिन्व ।

पक्खम्बिना पगम्भेन सकिस्सिह्वेन जीवितं ॥ १० ॥

(पाप के प्रति) निर्लज्ज, क्षीमे के समान झौनने में घर,
(परहित-) विनाशक, पतित, उच्छ्वस्त और मलिन बनकर जीवन
व्यतीत करना आसान है ।

(२४५)

हिरीमता च सुखीवं निर्व्वं सुधिगवेसिमा ।

अस्तीतेनपगम्भेन सुद्धाजीवेन पस्सता ॥ ११ ॥

लेकिन (पाप के प्रति) लज्जाशील, नित्य ही पवित्रता का विचार
करते हुए, आलस्य-रहित, उच्छ्वस्तता-रहित शुद्ध-आजीविका के साथ,
विश्रामवान् बनकर जीवन व्यतीत करना कठिन है ।

(२४६)

यो पापमतिपातेति मुखावाएञ्च भासति ।
लोके अविष्मन् आदिशति परदारञ्च गच्छति ॥१२॥

(२४७)

सुरामैर्यपानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति ।
इधेवमेसो लोकस्मिन् भूलं ज्ञनति भ्रमनो ॥१३॥

जो हिंसा करता है, जो झूठ बोलता है, जो चोरी करता है, जो पराई स्त्री के पास जाता है और जो मद्यपान करता है, वह आदमी यही इसी लोक में अपनी जड़ खोदता है ।

(२४८)

एवं भो पुरिस ! जानाहि पापकम्भा असकम्भता ।
मा तं लोभो अघम्भो च चिरं दुःखाय रम्भसु ॥१४॥

हे पुरुष, इसलिए ऐसा जान कि अशक्त(जन)पापी (होते हैं) तुम्हें शोभ और अघर्म चिरकाल तक दुःख में न रोंधे ।

(२४९)

ददन्ति वे यथासद् यथापसादनं जनो ।
तत्थ यो मङ्कु भवति परेसं पानमोचने ।
न सो विषा वा रप्ति वा समाधिं अधिगच्छति ॥१५॥

लोग अपनी-अपनी ब्रह्मा और प्रसन्नता के अनुसार दान देते हैं, जो दूसरों के खाने-पीने में असन्तोष प्रकट करता है, उसको न राग को शान्ति प्राप्त होती है न दिन को ।

(२५०)

यस्स भेत्तं सभुच्छिन्नं मूलधत्तं समूहतं ।

स वे विवा या रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति ॥१६॥

(लेकिन) जिसमें से यह (भाव) अङ्ग मूल से जाता रहा है वह रात को भी, दिन को भी, सदा शान्ति से रहता है ।

(२५१)

नत्थि रागसमो अग्निं नत्थि दोससमो गहो ।

नत्थि मोहसमं जालं नत्थि तण्हासमा नदी ॥१७॥

राग के समान आग नहीं, द्वेष के समान ग्रह नहीं, मोह के समान जाल नहीं और तृष्णा के समान नदी नहीं ।

(२५२)

सुवत्सं वज्जमब्बेसं अत्तनो पन दुइसं ।

परसं हि सो वज्जानि ओपुणाति यथासुसं ।

अत्तनो पन छादेति कल्लं च कित्वा सठो ॥१८॥

दूसरों के दोष देखना आसान है, अपने दोष देखना कठिन । (आदमी) दूसरों के दोषों को तो भुस की भांति उड़ता है किन्तु अपने दोषों को ऐसे ढकता है जैसे बेईमान कुवारी पासे को ।

(२५३)

परवज्जनुपस्सित्स मिच्छं उवमन्नसच्छिन्नो ।

आसया तस्स वड्ढन्ति आरा सो असवक्कया ॥१९॥

दूसरों के ■ दोष देखते फिरनेवाले के, सदा चिढ़ते रहनेवाले के आशय बढ़ते हैं । ऐसे आदमी के आशय बढ़ते हैं । ऐसा आदमी आशयों के शय से दूर है ।

(२५४)

आकासे च पदं नस्ति समणो नस्ति बाहिरे ।

पपञ्चामिरता पञ्चा निष्पपञ्चा तथागता ॥२०॥

आकाश में चिह्न नहीं; (आर्य-अष्टांगिक-मार्ग से) बाहर भ्रमण नहीं । लोग प्रपञ्च में लगे रहते हैं । तथागत प्रपञ्च-हीन हैं ।

(२५५)

आकासे च पदं नस्ति समणो नस्ति बाहिरे ।

सङ्गारा सस्सत्ता नस्ति, नस्ति बुद्धानमिच्छितं ॥२१॥

आकाश में चिह्न नहीं, (आर्य-अष्टांगिक-मार्ग से) बाहर भ्रमण नहीं । संस्कार नित्य नहीं हैं और बुद्धों में अस्थिरता नहीं ।

१६—धम्मद्वग्गो

(२५६)

न तेन होति धम्मद्वो येनत्थं साहसा नये ।
यो च अत्थं अनस्यञ्च उभो निष्क्रेय्य पण्डितो ॥ १ ॥

(२५७)

असाहसेन धम्मेन समेन नयती परे ।
धम्मस्स गुप्तो मेधावी धम्मद्वोति पवुवति ॥ २ ॥

जो आदमी सहसा किसी बात का निश्चय कर दे, वह धर्म-स्थित नहीं कहलाता । जो पण्डित-जन अर्थ, अनर्थ दोनों का अच्छी तरह विचार कर, धीरे-धीरे के साथ, निष्पन्न होकर न्याय करता है, वही मेधावी धर्म-स्थित कहलाता है ।

(२५८)

न तेन पण्डितो होति थावता बहु भासति ।
सोमी अवेरी अभयो पण्डितोति पवुवति ॥ ३ ॥

बहुत बोलने से पण्डित नहीं होता । जो संभवान् अवैरी और निर्भय होता है, वही पण्डित कहलाता है ।

(२५९)

न तावता धम्मचरो यावता बहु भासति ।
यो च अप्पमि सुत्थान धम्मं कायेन पस्सति ।
स वे धम्मचरो होति सो धम्मं नप्पमव्वति ॥ ४ ॥

बहुत बोलने भर से धर्म पर नहीं होता । जोड़ा भी धर्म सुनकर जो काय से उसके अनुसार आचरण करता है, और जो धर्म में प्रमाद नहीं करता, वही धर्म पर है ।

(२६०)

न तेन धेरो होति धेनस्स पत्तिं सितो ।

परिपक्वो पयो तस्स मोघजिह्वोति बुच्चति ॥ ५ ॥

शिर के बाल पकने मात्र से कोई स्थविर नहीं होता, उसकी आशु पक गई रहती है, वह ध्वस्स में शुद्ध हुआ कहलाता है ।

(२६१)

वग्धि सन्नद्ध धम्मो च अहिंसा सद्धम्मो दमो ।

स वे कन्तमत्तो धोरो धेरो णि पवुच्चति ॥ ६ ॥

जितमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संनम और दम हैं, वही विगतभल, धीर स्थविर कहलाता है ।

(२६२)

न धाक्खरुमत्तेन क्खणपोक्खरताव वा ।

साधुरूपो नरो होति इत्थुकी मक्खरी सठो ॥ ७ ॥

(२६३)

तस्स चेत्तं समुच्छिन्नं मूलधरुवं समूहत्तं ।

स कन्तदोसो मेधावी साधुरूपो णि बुच्चति ॥ ८ ॥

(यदि) वह ईर्ष्या, मत्सरी और शठ हो, तो बन्ता होने से, वा सुन्दर रूप होने से आदमी साधु-रूप नहीं होता । जित आदमी के वह दोष अङ्ग-मूल से नष्ट हो गये हैं, जो दोष-रहित है, जो मेधावी है, वही साधु-रूप कहलाता है ।

(२६४)

न शुण्डकेन समणो अन्नतो अलिकं भणो ।
इच्छालोभसमापन्नो समणो किं भविससति ॥ ६ ॥

(२६५)

यो च समेति पापानि अणुं धूलानि सन्नसो ।
समित्ता हि पापानं समणोऽसि पवुसति ॥ १० ॥

जो ऋत-हीन है जो मिथ्या-भ्रषी है, वह प्रसिद्ध होने मात्र से अमण नहीं होता । इच्छा-लोभ से भरा (मनुष्य) क्या भ्रमण बनेगा । जो सब छोटे-बड़े पापों का शमन करता है, उसे पापों का शमन-कर्ता होने के कारण से अमण कहते हैं ।

(२६६)

न तेन भिक्षु [सो] होति यावता भिक्षते परे ।
विस्सं धम्मं समादाय भिक्षु होति न तावता ॥ ११ ॥

दुराचरण-युक्त मनुष्य दूसरों से भीक्ष माँगनेवाला होने (मात्र) से भिक्षु नहीं होता ।

(२६७)

योऽथ पुच्छन्न पापञ्च भाहित्वा ब्रह्मचरियया ।
सङ्गाय लोके चरति ■ वे भिक्षु णित वुसति ॥ १२ ॥

जो पुण्य और पाप से परे हो गया है, जो ब्रह्मचारी है, जो ज्ञान-पूर्वक लोक में विचरता है, वह भिक्षु है ।

(२६८)

न मोनेन सुनी होति मुत्तरूपो अविससु ।
यो च तुलं च परगच्छ वरमादाय पण्डितो ॥ १३ ॥

(२६६)

पापानि परिवर्ज्येति स मुनी तेन सो मुनि ।

यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुवति ॥१४॥

मूढ़ और अधिद्वान् केवल मौन रहने से मुनि नहीं होता । जो परिश्रित दुःखा की भांति तोलकर, उत्तम तत्त्व को ग्रहण कर पापों को त्यागता है, वही असली मुनि है । जो दोनों लोकों का मनन करता है, वही मुनि होता है ।

(२७०)

न तेन अरियो ह्येति येन पाणानि हिंसति ।

अहिंसा सत्त्वपाणानं अरियो'ति पवुवति ॥१५॥

प्राणियों की हिंसा करने से कोई आर्यमी आर्य नहीं होता, जो किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता, वही आर्य होता है ।

(२७१)

म सीलज्वतमत्तेन बाहुसस्सेन वा पुन ।

अथवा समाधितामेन विविक्खससनेन वा ॥१६॥

(२७२)

कुसामि नेक्खम्मसुखं अपुत्तुज्जनसेवितं ।

भिक्षु । विस्सासमापादि अप्यत्तो व्यासवक्खयं ॥१७॥

भिक्षुओ ! शीलवान् होने से, ब्रती होने से, बहुभुत होने से, समाधि लाभी होने से वा एकान्तवासी होने मात्रसे यह विश्वास न कर लो कि मैं जनों से अपेक्षित नेक्कम्म-सुख का आनन्द ले रहा हूँ । अब तक आत्मव-ज्ञ (चित्त-मनो का त्याग) न कर लो, तब तक मैं न लो ।

२०—मग्गवग्गो

(२७३)

मग्गानट्टङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा ।

विरागो सेट्ठो सम्मानं द्विपदानञ्च चक्खुमा ॥ १ ॥

मार्गों में अष्टांगिक-मार्ग अष्ट है, त्यों में चार आर्य सत्य अष्ट है, धर्मों में वैराग्य अष्ट है, और चक्षुमान् (= बुद्ध) अष्ट हैं ।

(२७४)

एसो'व मग्गो नत्थ'कम्भो वस्सनस्स विसुद्धिया ।

एतं हि तुम्हे पटिपज्जय मारस्सेतं पमोहनं ॥ २ ॥

ज्ञान की प्राप्ति के लिए यही (एक) मार्ग है, दूसरा नहीं । भिक्षुओं ! तुम इसी रास्ते पर चलो । यह मार को मुक्ति करने वाला है ।

(२७५)

एतं हि तुम्हे पटिपज्जा तुक्खस्सन्तं करिस्सथ ।

अक्खतो वे मया मग्गो अक्खाय सत्त्वसम्भनं ॥ ३ ॥

इस मार्ग पर चलने से तुम दुःख का अंत कर सकोगे । संसार-दुःख को शून्य-समान स्वयं जानकर मैंने यह मार्ग कहा है ।

(२७६)

तुम्हेहि किञ्च आतप्पं अक्खतात्तारो तथागता ।

पटिपज्जा पमोक्खन्ति अयिनो मारज्जना ॥ ४ ॥

इसमें ही कृत्य करना है, तथागत तो केवल (मार्ग) बतलाने-
वाले हैं। इस मार्ग पर आरुढ़ होकर ग्यान करनेवाले मार-बन्धन से
मुक्त होंगे।

(२७७)

सब्बे सङ्गारा अनित्य इति यदा पञ्चाय पस्सति ।

अथ निज्जिन्वत्ति दुक्खे, एसमग्गो विसुद्धिया ॥ ५ ॥

सभी संस्कार (वनी चीड़ों) अनित्य हैं—जब इस बात को प्रज्ञा
से देखता है तब आदमी को संसार से विराग होता है, यही विशुद्धि का
मार्ग है।

(२७८)

सब्बे सङ्गारा दुक्खा इति यदा पञ्चाय पस्सति ।

अथ निज्जिन्वत्ति दुक्खे, एसमग्गो विसुद्धिया ॥ ६ ॥

सभी संस्कार दुःख हैं—जब इस बात को प्रज्ञा से देखता है तब
आदमी को संसार से विराग पैदा होता है, यही विशुद्धि का मार्ग है।

(२७९)

सब्बे धम्मा अनत्ता इति यदा पञ्चाय पस्सति ।

अथ निज्जिन्वत्ति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥ ७ ॥

सभी धर्म (उपदार्थ) अनात्म हैं—जब इस बात को प्रज्ञा से
देखता है तब आदमी को संसार से विराग होता है, यही विशुद्धि का
मार्ग है।

(२८०)

सद्दामकालम्हि

अमुद्धामो

मुवा कली आलसिपंचवेत्तो ।

संसज्जसङ्खप्पमनो कुसीतो

पब्बाय भग्गं अलसो न विन्दति ॥ ८ ॥

जो उद्योग नहीं करता, युवा और बली होकर (भी) आलस्य से युक्त है, जिसका मन व्यर्थ के संकल्पों से मरा है—ऐसा आलसी आदमी प्रज्ञा के मार्ग को नहीं प्राप्त कर सकता ।

(२८१)

वाचासुरक्खी मनसा सुसंयुतो

कायेन च अकुसलं न कथिरा ।

एते तयो कम्मपथे विसोधये

आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं ॥ ९ ॥

जो वाणी की रक्षा करता है, जो मन से संयमी है, जो शरीर से पाप-कर्म नहीं करता है; जो इन तीनों कर्मेन्द्रियों को शुद्ध रखता है नहीं बुद्ध के बताये धर्म का सेवन कर सकता है ।

(२८२)

योगा वे जायती भूरि अयोगा भूरिसङ्खयो ।

एतं द्वेधापथं अत्त्वा भवाय विभवाय च ।

तत्तत्तानं निवेसेय्य यथा भूरि पवङ्गति ॥ १० ॥

योग (= धम्मार्थ) से ज्ञान बढ़ता है, योग न करने से ज्ञान का क्षय होता है । उत्पत्ति और विनाश के इस दो प्रकार के मार्ग को जानकर अपने आपको वैसे रखें, जिससे ज्ञान की वृद्धि हो ।

(२८३)

वनं झिम्बं मा रुक्खं वनतो जायती भयं ।

झेत्वा वनञ्च वनञ्च निम्बना होय भिक्खवो ॥ ११ ॥

वन को काटो, वृद्ध को मत काटो । भय वन से पैदा होता है । हे
पिन्धुओ ! वन और भाङ्गी को काटकर निर्वाण प्राप्त करो ।

(२८४)

याव हि वनयो न क्षिजति अन्तुमसोपि नरस्स नारिषु ।

पटिबद्धमनो ■ ताव सो वच्छो स्त्रीरपको'थ मातरि ॥१२॥

जब तक स्त्री में पुरुष की अणु मात्र भी कामना बनी रहती है,
तब तक वह वैसे ही बँधा रहता है जैसे पुरुष पीने वाला गड़गड़ा अपनी
माँ से ।

(२८५)

उच्छिद्य सिनेहमस्यनो कुमुदं सारदिकं'थ पाणिना ।

सन्तिमरगमेव ब्रूय निध्वानं सुगतैर्न वैसितं ॥१३॥

जिस तरह हाथ से शरद (शूद्र) के कुमुद को तोड़ा जाता है,
उसी तरह अपने (दिल से) स्नेह को उच्छिद्य कर दे; और सुगत
द्वारा उपदिष्ट शान्ति-मार्ग निर्वाण का अनुसरण करे ।

(२८६)

इष वस्सं वसिस्सामि इष हेमन्तगिन्दिषु ।

इति बालो विचिन्तेति अन्तरायं न कुण्ठति ॥१४॥

यहाँ वर्षा-वात कर्कशा, यहाँ हेमन्त में रहूँगा, यहाँ ग्रीष्म-ऋतु में,
मूर्ख इस प्रकार सोचता है, विष को नहीं देखता ।

(२८७)

तं पुत्तपसुसम्मतं व्यासत्तमनसं नरं ।

सुत्तं गामं महोषो'थ मञ्जु आदाय गच्छति ॥१५॥

पुत्र और पशु में आसक्त (चित्त) मनुष्य को मृशु वैसे ही ले जाती
है, वैसे छोटे गाँव को (नदी की) बड़ी बाढ़ ।

(२८८)

न सन्ति पुत्रा ताण्ण्य न पिता नापि बन्धवा ।

अन्तकेनाधिपन्नस्स नत्थि भातिस्सु ताण्णता ॥१६॥

न पुत्र रक्षा कर सकते हैं, न पिता, न रिश्तेदार । अब मृत्यु पकड़ती है, तो रिश्तेदार नहीं बचा सकते ।

(२८९)

एतमत्थवस्स' ब्रह्मा परिवृत्तो सीलसंवृतो ।

निब्बाण-नामनं भग्गं सिण्णमेव विसोधये ॥१७॥

इस बात को जानकर शीलवान् परिवृत (जन) को चाहिये कि निर्वाण की ओर जानेवाले मार्ग को शीघ्र उत्पन्न करे ।

२१ — पकिरणकवम्भो

(२६०)

मत्तासुखपरिक्वाणा पस्से वे विपुलं सुखं ।

चजे मत्तासुखं घीरो सम्पत्सं विपुलं सुखं ॥ १ ॥

थोड़े से सुख के परित्याग से यदि बहुत सुख की प्राप्ति होती दिखाई दे तो बुद्धिमान् आदमी को चाहिये कि बहुत सुख का स्थापन करके थोड़े सुख को छोड़ दे ।

(२६१)

परयुपलूपदानेन यो अत्तनो सुखमिच्छति ।

वेरसंसगगसंसदो वेरा सो न पमुचति ॥ २ ॥

दूसरे को दुःख देकर जो अपने लिए सुख चाहता है, वेर के संसर्ग में आया हुआ वह वेर से मुक्त नहीं होता ।

(२६२)

यं हि किञ्च तत्पविद्धं अकिञ्चं पन कथिरति ।

उत्तत्तानं पमत्तानं तेसं ववुन्ति आसवा ॥ ३ ॥

जो कर्तव्य है उसे न करनेवाले, जो अकर्तव्य है उसे करनेवाले मल-युक्त प्रमादी जनों के आश्रय (= चित्त के मल) बढ़ते हैं ।

(२६३)

येसञ्च सुसमारत्ता निञ्चं कायगता सति ।

अकिञ्चं ते न सेवन्ति किञ्चे सातवकारिनो ।

सत्तानं सम्पजानानं अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥ ४ ॥

जिनकी कायानुस्मृति नित्य उपस्थित है, वह भ्रकर्तव्य को नहीं करते, कर्तव्य को निरुत्तर करते हैं। ऐसे स्मृतिमग्न और सचेत लोगों के आश्रय क्षय को प्राप्त होते हैं।

(२६४)

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च स्वस्थिये ।

रुद्धं सानुचरं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ॥ ५ ॥

तृष्णा (= माता), अहंकार (= पिता) आत्म-दृष्टि तथा उन्मत्त-दृष्टि (= दो क्षत्रिय राजाओं), राग (= अनुचर), और पाँच उपादन स्कंध (= राष्ट्र) का हनन करके ब्राह्मण निष्पाप होता है।

(२६५)

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोस्थिये ।

वेद्यग्वपन्नमं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ॥ ६ ॥

तृष्णा (= माता), अहंकार (= पिता), आत्म-दृष्टि तथा उन्मत्त-दृष्टि (= दो क्षत्रिय राजाओं) और ज्ञान के पाँच आवरणों (= व्याघ्र) का हनन करके ब्राह्मण निष्पाप होता है।

(२६६)

सुप्पबुद्धं पुबुब्भन्ति सदा गोतमसावका ।

येसं दिवा च रत्तो च निज्जं बुद्धगता सति ॥ ७ ॥

जिनकी दिन-रात बुद्ध-विषयक स्मृति बनी रहती है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब आगमक रहते हैं।

(२६७)

सुप्पबुद्धं पुबुब्भन्ति सदा गोतम सावका ।

येसं दिवा च रत्तो च निज्जं धम्मगता सति ॥ ८ ॥

जिनकी दिन-रात धर्म-विषयक स्मृति बनी रहती है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरूक रहते हैं ।

(२६८)

सुप्पमुद्धं पबुवमन्ति सदा गौतमसावका ।

येसं विषा च रत्तो च निब्बं सङ्गता सति ॥६॥

जिनकी दिन-रात सर्व-विषयक स्मृति बनी रहती है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरूक रहते हैं ।

(२६९)

सुप्पमुद्धं पबुवमन्ति सदा गौतमसावका ।

येसं विषा च रत्तो च निब्बं कायगता सति ॥१०॥

जिनकी दिन-रात काय-स्मृति बनी रहती है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरूक रहते हैं ।

(३००)

सुप्पमुद्धं पबुवमन्ति सदा गौतमसावका ।

येसं विषा च रत्तो च अहिंसाय रत्तो मनो ॥११॥

जिनका मन दिन-रात अहिंसा में रत रहता है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरूक रहते हैं ।

(३०१)

सुप्पमुद्धं पबुवमन्ति सदा गौतमसावका ।

येसं विषा च रत्तो च भावनाय रत्तो मनो ॥१२॥

जिनका मन दिन-रात योग-अभ्यास (— भावना) में रत रहता है, गौतम के वह शिष्य खूब जागरूक होते हैं ।

(३०२)

दुष्पक्कजं दुरभिरमं दुरावासा धरा दुक्का ।

दुक्खो समानसंवासो दुक्खानुपतितद्वगू ।

तस्मा न च अद्वगू सिवा न च दुक्खानुपतितो सिवा ॥१३॥

प्रमत्ता में रह होना दुष्कर है, सद्धत्य में रहना दुःखकर है, असमान लोगों के साथ रहना दुःखकर है, आवागमन में पड़ना भी दुःखकर है । इसलिए न मार्ग में पड़े, न दुःख में भिरे ।

(३०३)

सद्धो सीलेन सम्पन्नो असोमोगसमप्पितो ।

यं यं पदेसं अज्जति तत्थ तत्थेव पूजितो ॥१४॥

जो भद्राचान् है, जो सदाचारो है, जो यशस्वी है, जो सम्पत्तिशाली है वह जहाँ जहाँ जाता है वही वही स्तुकार पाता है ।

(३०४)

दूरे सन्तो पक्कसेव्ति हिमवन्तोव पक्कता ।

असन्नेस्य न विस्सन्ति रत्तिस्सिवा क्वा सरा ॥१५॥

अत्युच्च हिमालय-पर्वत की तरह दूर से प्रकाशित होते हैं, असत्युच्च रात में लौके वायु की तरह दिखाई नहीं देते ।

(३०५)

एकस्समं एकसेव्धं एकोच्चरमत्तन्दितो ।

एको दमवमत्तानं वनस्ते रमितो सिवा ॥१६॥

एकसम, एक सम्पावाला, आलस्य-रहित (हो) अकेला विचरने वाला अपने आपकी अकेला दमन करनेवाला वन में आनन्द से रहता है ।

२२—निरयवन्तो

(३०६)

अभूतवादी निरयं उपेति यो चापि

कत्वा 'न करोमी' ति चाह ।

समोपि ते ऐव समा भवन्ति

निर्हीनकम्मा मनुजा परस्थ ॥ १ ॥

असत्यवादी नरक में जाता है, जो करके 'नहीं किया' कहता है, वह भी नरक में जाता है । दोनों ही प्रकार के नीच कर्म करनेवाले मरकर बराबर हो जाते हैं ।

(३०७)

कासायकण्ठा बहवो पापघन्मा असम्भृता ।

पापा पापेहि कम्मेहि निरयन्ते सम्पञ्जरे ॥ २ ॥

कंठ में कासाय-बन्ध बांधे कितने ही असंभरी पापी हैं । वह पापी अपने पाप - कर्मों के कारण नरक में उत्पन्न होते हैं ।

(३०८)

सेय्वो अयोगुलो मुत्तो ततो अग्निस्सिद्धपमो ।

वक्खे मुज्जेप्य दुस्सीलो रूप्पिबड असम्पत्तो ॥ ३ ॥

दुराचारी असंभरी हो रेव का मग्न (राहू-पिण्ड) लगे से अग्नि-शिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है ।

(३०६)

चत्तारी ठानानि नरो वमत्तो

आपन्नती परदारुपसेवी ।

अपुण्यतामं न निकामसेय्यं

निम्बं तत्तिवं निरवं चतुत्थं ॥ ४ ॥

(३१०)

अपुण्यतामो च गती च पापिका,

भीतस्त भीताय रती च भोकिता ।

राजा च वदं गदकं पठेति

तस्मा नरो परदारं न सेवे ॥ ५ ॥

प्रमादी, परस्त्रीगामी मनुष्य की चार गतियाँ होती हैं—अपुण्य-
ताम, दुःख से निजा कब न आता, मित्रा और नरक । (अथवा)
अपुण्यताम, दुर्गति, भयभीत (पुरुष) की भयभीत (स्त्री) से
आश्वस्य रति, राजा का भारी राजा देना—इसलिए मनुष्य पर-स्त्रीगमन
न करे ।

(३११)

कुतो यथा दुग्गहीतो हस्वमेवानुपकम्पति ।

सामकम्पं दुग्धरामदुर्धं निरवानुपकम्पति ॥ १ ॥

जिस प्रकार कुय यदि उसे ठीक से न प्रश्व करे तो हाथ छेद देता
है, उसी प्रकार संन्यास (= सामकम्प) यदि उसे ठीक से न पालन करे
तो नरक में लँ जाता है ।

(३१२)

यं किञ्चि सिद्धितं कम्मं सक्किल्लिट्ठं च यं वत्तं ।

सक्कस्सदं अक्कपरिवं न सं होति महत्फलं ॥ ७ ॥

जो कार्य ढीला-ढाला है, जो ब्रत मल-युक्त है, जो प्रसङ्गवर्त्य अशुद्ध है, उसका महान् फल नहीं होता ।

(३१३)

कयिरक्खे कयिरावेन वल्लभमेन परक्खमे ।

सिधिलोहि परिमाजो भिय्यो काकिरते रत्तं ॥ ८ ॥

यदि किसी काम को करना है, तो करे, उसमें हठ करारक्रम के साथ छुट जावे । ढीला-ढाला संन्यासी अधिक धूल उड़ाता है ।

(३१४)

अकत्तं सुकत्तं सेय्यो पच्छा तपत्ति सुकत्तं ।

कत्तञ्च सुकत्तं सेय्यो यं कस्सा नानुत्तपपत्ति ॥ ९ ॥

पाप का न करना अच्छा, पाप करनेवाले को अनुताप होता है; शुभ-कर्म का करना अच्छा, शुभ कर्म करनेवाले को अनुताप नहीं होता ।

(३१५)

नगरं यथा पक्कवन्तं गुप्तं सन्तरथाहिरं ।

यथ गोपेयं अत्तानं खणों वे मा पक्कवन्ता ।

खणातीता हि सोचन्ति निरयन्ति समप्पिता ॥ १० ॥

जैसे सीमान्त देश का गढ़ (= नगर) अन्दर बाहर से सुरक्षित होता है, उसी तरह से अपनी सँभाल करे—एक क्षण भी न जाने दे । समय (हाथ से चले) जाने पर नरक में पड़कर शोक करना होता है ।

(३१६)

अल्लज्जिता ये लल्लन्ति लज्जिता ये न लल्लज्जे ।

मिच्छाविदिठसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥ ११ ॥

अलम्बा (के काम) में जो लम्बा करते हैं, लम्बा के काम में जो लम्बा नहीं करते ऐसे झूठी धारणावाले प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं ।

(३१७)

अमये च भयवस्तिनो भये च अभयवस्तिनो ।

मिच्छादिद्विसमाधाना सत्ता गच्छन्ति दुर्गतिं ॥१८॥

अभय (के स्थान) में जो भय करते हैं, भय में जो भयवर्धित रहते हैं—ऐसे झूठी धारणावाले प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं ।

(३१८)

अवज्जो वज्जमतिनो वज्जो आवज्जवस्तिनो ।

मिच्छादिद्विसमाधाना सत्ता गच्छन्ति दुर्गतिं ॥१९॥

अदोष को जो दोष समझते हैं, दोष को जो अदोष समझते हैं—ऐसे झूठी धारणावाले प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं ।

(३१९)

अवज्जो वज्जतो अत्था अवज्जो अवज्जतो ।

सम्मादिद्विसमाधाना सत्ता गच्छन्ति दुर्गतिं ॥२०॥

दोष को जो दोष करके जानते हैं, अदोष को अवज्जो, ऐसे ठीक धारणावाले प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं ।

२३—नागधर्मो

(३२०)

अहं नागोऽथ सङ्ग्रामे चापतो पतितं सरं ।

अतिवाक्यं तितिकिखस्स दुस्सीलो हि बभूवन्नो ॥१॥

जैसे युद्ध में हाथी मनुष्य से गिरे बाण को सहन करता है, वैसे ही मैं कटुवाक्यों को सहूँगा (क्योंकि) संसार में दुर्जन बहुत है ।

(३२१)

दण्ठं नयन्ति समितिं दण्ठं राजाभिरुहति ।

दण्ठो सेट्ठो मनुस्सेसु यो तिवाक्यं तितिकिखति ॥ २ ॥

शिक्षित (हाथी) को युद्ध में ले जाते हैं, शिक्षित हाथी पर राजा चढ़ता है, मनुष्यों में शिक्षित (मनुष्य) भेड़ हैं जो कटुवाक्यों को सह सकता है ।

(३२२)

वरं अस्ससरा दण्ठा आजानीया च सिन्धवा ।

कुखरा च महानागा अत्तदण्ठा सतो वरं ॥ ३ ॥

सबेर, आभ्यानीय (= अच्छे सेत के) सिन्धी घोड़े और महानाग हाथी शिक्षित हो तो भेड़ हैं—आदमी शिक्षित हो तो इन सबसे भेड़ है ।

(३२३)

न हि पत्तेहि यानेहि गच्छेज्ज अगतं विसं ।

यथाऽचना सुदन्तेन दन्तो दन्तेन गच्छति ॥ ४ ॥

इन (घोड़े, गायड़ी आदि) वाहनों से कोई निर्वाण को नहीं जा सकता, जैसे अम्भावी स्वयं जा सकता है । शिक्षित (मनुष्य) संयत इन्द्रियों द्वारा निर्वाण प्राप्त कर सकता है ।

(३२४)

धनपालको नामकुलरोकटकप्पमेवमो दुस्सिधारयो ।

बद्धो कवलं न सुखति सुमरति मागधनस्स कुलरो । ॥५॥

सेना को तितर बितर कर देनेवाला, धनपालक नाम का दुर्धर्ष हाथी (आश्व) बन्धन में बँधा होने से कवल नहीं जाता; अपने हाथियों के जंगल की याद करता है ।

(३२५)

मिद्धी पया होति महग्गसो च मिहायिता सम्परिवत्तसायी ।

महाबराहोश्च मिवापपुहो पुनप्पुनगग्गमुपेति सम्भो ॥६॥

जो आलसी, बहुत खानेवाला, निद्रास्तु, करघट बढ़त बढ़त कर छोनेवाला, दाना खाकर पके मोटे सूअर की भाँति होता है, वह सम्भ-मति बार बार गर्भ में पड़ता है ।

(३२६)

इहं पुरे चित्तमचारि चारिकं

येनिष्कृत्तं यत्थं कामं यथासुखं ।

तवज्जहं निग्गहेस्सामि योनिंसो

इत्थिप्पभिन्नं विव अङ्कुसग्गहो ॥ ७ ॥

पहले यह चित्त जहाँ इसकी इच्छा हुई, यथा-काम यथा-सुख विचरा; लेकिन आज मैं इसे अच्छी तरह काबू में रक्कँगा, जैसे महावत मस्त हाथी को ।

(३२७)

अप्यमाप्सता होथ स, चित्तमनुरक्तस्य ।

दुग्धा उद्धरय-स्थानं पङ्क्तु सप्तो व कुक्षरो ॥ ८ ॥

जागरूक रहो, अपने मन को संभाल कर रखो । पङ्क्तु में कैसे हाथी की तरह अपने आप को (राग आदि के) गढ़े में से निकालो ।

(३२८)

सचे तमेव निषर्कं सहायं

सद्धिं चर साधुविहारि भीरं ।

अभिमुख्य सन्मानि परिस्सयानि

चरेय्य तेन, समनो सतीमा ॥ ९ ॥

यदि परिपक्व (बुद्धि) सकारिण साथी मिले, तो सब विघ्नों को हटाकर सचेत प्रवृत्त-चित्त हो उसके साथ चिचरे ।

(३२९)

नो चे तमेव निषर्कं सहायं

सद्धिं चर साधुविहारि भीरं

राजा च रक्षं विजितं पहाय

एको चरे मातङ्ग-रज्ज्वेव नागो ॥ १० ॥

लेकिन यदि परिपक्व (बुद्धि) सकारिण साथी न मिले तो जैसे पराजित राजा को छोड़ राजा (या) जंगल में हाथी अकेला विचरता है, उसी तरह अकेला चिचरे ।

(३३०)

एकस्स चरितं सेव्यो नत्थि बाले सहायता

एको चरे न च पापानि कविरा

अप्योत्सुकको मातङ्ग-रज्ज्वेव नागो ॥ ११ ॥

अकेले विचरना अच्छा है, मूर्ख की मित्रता अच्छी नहीं । अनासक्त मातङ्गराज हाथी की भौंति अकेला विचरे, पाप न करे ।

(३३१)

अत्यन्धि जातन्धि सुखा सहाया

सुखी सुखा या इतरीतरेण ।

पुण्यं सुखं जीवितसङ्गमन्धि

सङ्गस्स दुक्खस्स सुखं पहाय्यं ॥१२॥

काम पकने पर भिन्न सुखकर है, भिन्न तित चीज़ से सम्बुद्ध रहना सुखकर है, जीवन के क्षय होने के समय पुन्य सुखकर है, लेकिन सबसे बढ़कर सुखकर है सारे दुःखों का नाश ।

(३३२)

सुखा मत्तयेव्यता लोके अथो पेत्तयेव्यता सुखा ।

सुखा सामय्यता लोके अथो मज्झम्यता सुखा ॥१३॥

संसार में मातृ-सेवा सुखकर है और सुखकर है पितृ-सेवा । संसार में भ्रमणत्व (संन्यास) सुखकर है और सुखकर है निष्पाप होना (महापाप) ।

(३३३)

सुखं थाव जरा सीलं सुखा सखा पत्तिवृत्ता ।

सुखो पङ्कमाय पटिस्सामो पापानं अकरय्यं सुखं ॥१४॥

श्रुतापे तक सदाचारी रहना सुखकर है, स्थिर-भद्रा सुखकर है, प्रज्ञा की प्राप्ति सुखकर है और सुखकर है पापों का न करना ।

३४—तण्डहावगो

(३३४)

मनुजस्त पमत्तचारिनो तण्डहा वद्धति माछुवा बिय ।

सो फलवती हुराहुरं फलमिच्छं व वनरिं वानरो ॥ १ ॥

प्रमादी मनुष्य की तुम्हा माछुवा (लता) की भोंति बढ़ती है ।
फल की इच्छा करता हुआ वह वन में वानर की तरह दिनों दिन
भटकता है ।

(३३५)

यं पसा सहती जम्मि तण्डहा लोके विसत्तिका ।

सोका तरस पवद्धन्ति अभिवद्धं व वीरयां ॥ २ ॥

जैसे यह बराबर जनमते रहनेवाली विषरूपी तुम्हा पकड़ती है,
वर्षनशील वीरया की भोंति उसके शोक पड़ते हैं ।

(३३६)

यो चेत्त सहती जम्मि तण्डहा लोके दुरवयं ।

सोका तण्डहा पपत्तन्ति उद्विग्नुव पोक्खरा ॥ ३ ॥

लेकिन जो इस बराबर जनमते रहनेवाली दुर्जय तुम्हा की बीतता
है, उसके शोक जैसे ही गिर जाते हैं, जैसे कमल (पत्र) से जल-विन्दु ।

(३३७)

तं यो ववामि मंद् यो यावन्तेस्य समागता ।

तण्डहाय मूलं सण्डाय वसीरस्थोव वीरयां ॥ ४ ॥

इसलिए जितने यहाँ आए हो, तुम्हें कहता हूँ—सुम्हारा मंगल हो। जिस प्रकार खस का चाहनेवाला वीरण पास को उखाड़ता है, उसी प्रकार तुम तुष्णा की जड़ खोद दो।

(३३८)

यथापि भूले अनुपश्ये दच्छे

क्षिप्तोपि कश्चो पुनरेव रहति ।

यवन्मि तण्णानुसये अनूहते

निव्यसति दुष्खसिद्धं पुनप्पुनं ॥ ५ ॥

जिस प्रकार—जब तक जड़ पूरी तरह नहीं उखड़ जाती तब तक कटा हुआ भी वृक्ष उग आता है, उसी प्रकार जब तक तुष्णारूपी अनुशय पूरी तरह नष्ट नहीं हो जाते, तब तक बार बार दुःख पैदा होता रहता है।

(३३९)

यस्य क्षत्तिं सती सोता मनापस्सवना मुखा ।

बाहा वहन्ति दुदिट्ठिं सङ्कप्पा रागनिस्सिता ॥ ६ ॥

जिस आदमी के छत्तीस स्रोत, मन को अच्छी लगनेवाली चीजों की ही ओर जाते हों, उस झूठी धारणा वाले आदमी को उसके रागाग्नि त संकल्प मशकूर ले जाते हैं।

(३४०)

सवन्ति सव्ववि सोता लता उभिक्ख तिठ्ठति ।

तज्ज विस्वा सतं जातं मूलं पक्कवाय क्षिप्पथ ॥ ७ ॥

स्रोत चारों ओर बहते हैं। लता अंकुरित रहती है। उस (तुष्णारूपी) लता को उत्पन्न हुआ देख प्रका से उसकी जड़ को काटो।

(३४१)

सरितानि सिनेहितानि च

सोमनस्सानि भवन्ति जम्बुनो ।

ते स्रोतसिता सुखेसिनो

ते वे जातिजरूपगा सरा ॥ ५ ॥

नदियाँ स्निग्ध हैं और प्राणियों के चित्त को अच्छी लगती हैं । इन (नदियों) के बन्धन में बँधे नर भोगों को खोजते हैं, और जाति तथा जरा के फेर में पड़ते हैं ।

(३४२)

तस्मिन्नाय पुरस्कृताः पजा

परिसम्पन्ति ससौ च बाधितो ।

सम्बोधनसङ्गसत्तका

दुःखमुपेक्षित पुनर्पुनं विराय ॥ ६ ॥

तृष्णा के पीछे लगे प्राणी, बँधे तरगोश की भाँति चकर काटते हैं, संयोजनों में कैसे नर विरकाश तक बार बार दुःख पाते हैं ।

(३४३)

तस्मिन्नाय पुरस्कृताः पजा

परिसम्पन्ति ससौ च बाधितो ।

तस्मा तस्मिन् विनोदये भिक्षु

आकम्प्य विरागमत्तनो ॥ ७ ॥

तृष्णा के पीछे लगे प्राणी, बँधे तरगोश की भाँति चकर काटते हैं; इसलिए अनासक्त होने की इच्छा रखनेवाला भिक्षु तृष्णा को दूर करे ।

(३४३)

यो निर्व्यनयो वनाभिमुत्तो वनमुत्तो वनमेव धावति ।

तं पुग्गलमेव पस्सथ मुत्तो वन्दनमेव धावति ॥११॥

जो निर्वाचार्थी तुम्हा से मुक्त हो, अन्धी प्रकार मुक्त हो फिर तुम्हा की ही ओर दौड़ता है, उस आदमी को ऐसा जानो जैसे कोई वन्दन से मुक्त हो फिर वन्दन की ओर भागता है ।

(३४४)

न तं दृष्ट्वा वन्दनमाहु वीरा

यदायसं दास्यं वन्दनजगत् ।

सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु

पुत्तेसु दारेसु च वा अपेक्षा ॥१२॥

यह जो सोचे, लकड़ी या रस्ती के वन्दन है, उन्हें वीर (जन) वन्दन नहीं कहते । अच्छी वन्दन तो है—जन में अनुरक्ति, पुत्र तथा स्त्री में अनुरक्ति ।

(३४५)

एतं दृष्ट्वा वन्दनमाहु वीरा

ओहारिनं सिधिलं दुष्पमुत्तमं ।

एतस्मिं क्षेत्रान् परिभ्रजन्ति

अनपेक्षितानो काममुखं पहाव ॥१३॥

इन्हीं वन्दनो को वीर (= जन) पतनोत्तम, सिधिल और दुस्त्यान्व वन्दन कहते हैं । वे इन्हीं भी क्षेत्र, अपेक्षारहित हो काम-मुख छोड़ प्रजगित होते हैं ।

(३४७)

ये रागरसालुपतन्ति सोतं
 सत्यं कर्तं मन्कटकोषं जातं
 एतन्मि छेत्स्वाम वजन्ति वीरा
 अनपेक्षितनो सकलदुःखं पहाय ॥१४॥

जो राग में रक्त है, वह मकड़ी के अपने बनाये जालों की तरह
 प्रवाह में फँस जाते हैं; वीर (जन) इसे भी छेद कर, अपेक्षा-रहित
 हो, सब दुःखों को छोड़ प्रसन्नित होते हैं ।

(३४८)

मुञ्च पुरे मुञ्च पञ्चततो मन्मथे मुञ्च भवस्त पादगू ।
 सम्बन्ध विमुक्तमानसो न पुन जातिजर्द अपेक्षि ॥१५॥

पूर्व, वर्तमान तथा भविष्य के सम्बन्ध को छोड़ कर संसार-सागर
 के पार हो जा । सब ओर से मन को मुक्त कर लेने वाला जाति-जरा को
 प्राप्त न होगा ।

(३४९)

वितक्कपमथितस्त जन्तुनो
 तिब्बरागस्त मुनालुपस्तिनो ।
 भिन्धो तयहा पवद्धति
 एसो सो वळ्हं करोति बन्धनं ॥१६॥

जिसके मन में बहुत संकल्प-विकल्प उठते हैं, जिसके मन में तीव्र
 राग है, जो शुभ ही शुभ देखता है, उसकी तुष्णा बढ़ती है, वह अपने
 बन्धन को और भी दृढ़ करता है ।

(३५०)

वितक्कूपसमे च यो रतो

असुमं भाषयति सदा सती ।

एस सो व्यन्तिकाहिनि

एस छेच्छति मारदम्बनं ॥१७॥

जो संकल्प-विकल्प को शान्त करने में लगा है, जो जागृक रहकर सदा असुम को देखता है, वह मार के दम्बन को काटेगा, वही नष्ट करेगा ।

(३५१)

निट्ठुक्खो असन्तासी पीततण्हो अनक्खणो ।

उच्छिन्नो भवसन्तानि अन्तिमो'यं समुत्तयो ॥१८॥

जिसका (काम्य) समाप्त हो गया, जो त्रास रहित है, जो तृष्णा-रहित है, जो मल-रहित है, वही संसार रूपी शल्य को काटेगा, यह उसका अन्तिम-जन्म है ।

(३५२)

पीततण्हो अनादानो निरुत्तिपदकोविधो ।

अकस्सरानं सन्निपातं जज्झा पुज्जपरानि च ।

स वे अन्तिससारारीतो महापब्बो'ति युष्मि ॥१९॥

जो तृष्णा-रहित है, जो परिग्रह-रहित है, जो भाषा और काव्य को जानता है, जो व्याकरण जानता है, वह निश्चय से अन्तिम शरीरवाला तथा महाप्राज्ञ है ।

(३५३)

सब्बाभिभू सम्मविदूहमस्मि

सर्वेषु धम्मेषु अनूपत्तिवो ।

सम्बल्लहो तण्ड्यावगो विमुक्तो

सर्वं अभिक्कमाय कमदिसेय्य ॥२०॥

मैंने सबको परास्त किया है, मैं सब कुछ जानता हूँ, मैं सब धर्मों (—अस्तित्वों) से अलिप्त हूँ, मैं सर्वस्व त्यागी हूँ, मैंने तुम्हा का क्षय किया है, मैं विमुक्त हूँ—स्वयं शान प्राप्त करके मैं किसे (अपना) गुन बताऊँ ?

(३५४)

सम्बदानं धम्मदानं जिनाति

सम्भं रसं धम्मरसो जिनाति ।

सम्भं रतिं धम्मरती जिनाति

तण्ड्यावगो सम्बदुक्खं जिनाति ॥२१॥

धर्म का दान सब दानों से बढ़कर है, धर्म-रस सब रसों से बढ़कर है, धर्म-रति सब रतियों से बढ़कर है, तुम्हा का क्षय सब दुःख-क्षयों से बढ़कर है ।

(३५५)

हण्णि भोगा दुस्सेधं नो वे पारगवेसिनो ।

भोगतण्ड्याय दुस्सेधो हण्णि अक्कमेधं अत्तनं ॥२२॥

भोग दुर्बुद्धि (—पुरुष) को नष्ट कर डालते हैं यदि वह पार जाने की कोशिश नहीं करता, भोग की तुम्हा में पड़कर दुर्बुद्धि पराये की भाँति अपने को मार डालता है ।

(३५६)

तिग्गहोसानि खेत्तानि रागवोसा अयं पप्पा ।

तरमा हि वीतरागेसु पिमं होति मङ्गफलं ॥२३॥

खेतों का दोष है तुण्य, मनुष्यों का दोष है राग । इसलिए भीतराग मनुष्यों को दिया गया दान महान् फल देता है ।

(३५७)

तिण्णदोसानि खेत्तानि मोहदोसा अयं पज्जा ।

तस्मा हि भीतदोसेसु विभं होति महप्फलं ॥२४॥

खेतों का दोष है तुण्य, मनुष्यों का दोष है मोह । इसलिए भीतरहित मनुष्यों को दिया गया दान महान् फल देता है ।

(३५८)

तिण्णदोसानि खेत्तानि मोहदोसा अयं पज्जा ।

तस्मा हि भीतमोहेसु विभं होति महप्फलं ॥२५॥

खेतों का दोष है तुण्य, मनुष्यों का दोष है मोह । इसलिए भूतता-रहित मनुष्यों को दिया गया दान महान् फल देता है ।

(३५९)

तिण्णदोसानि खेत्तानि इण्णदोसा अयं पज्जा ।

तस्मा हि विगतिण्णेषु विभं होति महप्फलं ॥२६॥

खेतों का दोष है तुण्य, मनुष्यों का दोष है इण्ण करमा, इसलिए इण्ण-रहित मनुष्यों को दिया गया दान महान् फल देता है ।

२५—भिक्षुवर्गो

(३६०)

वक्षुता संवरो साधु साधु सोतेन संवरो ।

वायेन संवरो साधु साधु जिज्ञाय संवरो ॥ १ ॥

आँख का संयम (करना) अच्छा है, कान का संयम अच्छा है,
नाक का संयम अच्छा है, जिह्वा का संयम अच्छा है ।

(३६१)

कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो ।

मनसा, संवरो साधु साधु सव्यथ संवरो ।

सव्यथ संवृतो भिक्षु सव्यतुला पमुचति ॥ २ ॥

शरीर का संयत रहना अच्छा है, वाणी का संयत रहना अच्छा है,
मन का संयत रहना अच्छा है, सब इन्द्रियों को संयत रखनेवाला भिक्षु
सब वस्तुओं से मुक्त होता है ।

(३६२)

हृत्थसव्यतो

पादसव्यतो

वाचाय सव्यतो सव्यतुत्तमो

अभ्यन्तरतो

समाहितो

एको सन्तुषितो तमाहु भिक्षुं ॥ ३ ॥

जो हाथ, पाँव और वाणी से संयत है, जो उत्तम संयमी है, जो अपने में रत है, जो समाधियुक्त है, जो अकेला रहता है, जो सन्तुष्ट है, उसे भिक्षु कहते हैं ।

(३६३)

यो मुखसंयतो भिक्षु मन्तभाणी अनुद्धतो ।

अर्थं धम्मज्ज दीपेति मधुरं तस्म भासितं ॥ ४ ॥

जो वाणी का संयमी है, जो मनन करके बोलता है, जो उद्धत नहीं है, जो अर्थ और धर्म को प्रकट करता है, उसका भाषण मधुर होता है ।

(३६४)

धम्मारातो धम्मरतो धम्मं अनुविचिन्तयं ।

धम्मं अनुसरं भिक्षु सद्धम्मा न परिहायति ॥ ५ ॥

धर्म में रमण करनेवाला, धर्म में रत, धर्म का चिन्तन करनेवाला धर्म का अनुसरण करनेवाला भिक्षु सब धर्म से श्रुत नहीं होता ।

(३६५)

सत्तामं नातिमब्बेय्य, नाब्बेसं पिहयं परे ।

अब्बेसं पिहयं भिक्षु समाधिं नाधिगच्छति ॥ ६ ॥

अपने लाभ की अक्वहेलना न करें, और न दूसरे के लाभ की स्पृहा । दूसरे के लाभ की स्पृहा करनेवाला भिक्षु विच की एकामता को प्राप्त नहीं करता ।

(३६६)

अप्पत्तामोपि ये भिक्षु सत्तामं नातिमब्बन्ति ।

तं वे देवा पसंसन्ति सुखाधीनि अतन्वितं ॥ ७ ॥

चाहे लाभ थोड़ा ही हो, यदि भिक्षु अपने लाभ की अवहेलना नहीं करता, तो उस शुद्ध-आजीविका वाले आलस्य-रहित भिक्षु की देवता प्रशंसा करते हैं ।

(३६७)

सज्जसो नामरूपस्मिं यस्स नत्थि ममाहितं ।

असता च न सोचति स मे भिक्षुत्तिं वुचति ॥५॥

सारे जगत् (= नाम-रूप) में भिक्षुका कुछ भी “मेरा” नहीं है, जो (किसी वस्तु के) न रहने पर शोक नहीं करता, वही भिक्षु कहलाता है ।

(३६८)

मेत्ताविहारी यो भिक्षु पससो शुद्धसाधने ।

अभिगच्छे पदं सम्तं सज्जारूपसमं सुखं ॥ ६ ॥

मैत्री (-भावना) से विहार करता हुआ, जो भिक्षु दुःख के उपदेश में भद्रावाप्त है, वह सभी संस्कारों के शमन, सुखस्वरूप शान्त-पद को प्राप्त करता है ।

(३६९)

सिञ्च भिक्षु । इमं नाव सित्ता ते लहुमेस्सति ।

क्षेपवा रागव दोसञ्च ततो निब्बाणमेहिसि ॥ १० ॥

भिक्षु, इस नावको उलीच । उलीचने से यह नाव तुम्हारे (लिण्) हलकी हो जाएगी । राग और द्वेष को छेद कर तुम निर्वाण प्राप्त करोगे ।

(३७०)

पञ्च क्षिप्वे पञ्च जहे पञ्चुत्तरि भावये ।

पञ्च सज्जातिगो भिक्षु ओधत्तिण्यो’ति वुचति ॥ ११ ॥

जो पाँच को खेदे, पाँच को छोड़े, पाँच की भावना करे और पाँच के संसर्ग को लॉव जाय, वह भिन्नु 'यह से उत्तीर्ण' कहा जाता है।

(३०१)

ममय भिन्नु ! मा च पामदो

मा ते कम्मगुणे ममस्सु चित्तं ।

मा लोहगुलं गित्ती पमत्तो

मा कम्पि दुक्खमिदन्ति कम्पमानो ॥१२॥

भिन्नु, ध्यान कर, प्रमाद मत कर । (देख,) तेरा चित्त भोगों के चक्कर में न पैसे । प्रमत्त होकर लोहे के गोले को न निगल । "यह दुःख है" जलते हुए चिन्ताकर तुझे रोना न पड़े ।

(३०२)

नत्थि ममानं अपवन्मस्स पळ्ळा नत्थि अक्कायतो ।

यन्धि मन्नन्न पळ्ळा च स वे निब्बाण सम्मित्ते ॥१३॥

जिसको प्रज्ञा नहीं, उसका चित्त एकाग्र नहीं होता, जिसका चित्त एकाग्र नहीं, वह प्रज्ञावान् नहीं हो सकता । जिसमें ध्यान और प्रज्ञा दोनों हैं, वही निर्वाण के पास है ।

(३०३)

सुक्खागारं पविट्ठस्स सन्तचित्तस्स भिन्नुना ।

कमानुत्तो रत्ती होति सम्माधम्मा विपस्सतो ॥१४॥

एकान्त-यह में रहनेवाले, सान्त-चित्त, सम्मक् धर्म को जाननेवाले भिन्नु को लोकोत्तर ज्ञान-रूप मिलता है ।

(३७४)

यतो यतो सम्मसति सन्धानं उद्यम्यते ।

समती पीतिपामोज्जं जमतं तं विजानतं ॥१५॥

मनुष्य जैसे जैसे स्कंधों की उत्पत्ति और विनाश को देखता है, वैसे वैसे वह जानियों की मीति और प्रवृत्तता को समृत्त को मास करता है ।

(३७५)

तत्रायमादि भवति इध पञ्चमस्त मित्रसुखो ।

इन्द्रियशुक्ति सन्नुद्धि पातिमोक्षो च संपदो ।

मित्रे भजन्सु कल्याणे सुखाजीवे अतन्दिते ॥१६॥

बुद्धिमान् भिक्षु को पहले यह करना होता है—इन्द्रिय-संयम, सन्तोष और भिक्षु-निषमो का पालन । (उसे चाहिये कि) वह शुद्ध आत्मी-विकाशले, आलस्य-रहित कल्याण-मित्रों की संगति करे ।

(३७६)

पतिसन्धारवृत्तस्त आचारकुसलो सिषा ।

ततो पामोज्जवहुलो दुक्खस्सन्तं करिस्ससि ॥१७॥

सेवा-सत्कार करनेवाला होवे । आचारवान् बने । उससे आनन्दित होकर दुःख का अन्त करनेवाला बनेगा ।

(३७७)

वस्सिका विथ पुप्फानि मइवानि पमुज्जसि ।

एवं रागाद्व दोसस्स विप्पमुज्जयेथ मित्रस्सवो ॥१८॥

जैसे जहाँ (अपने) कुम्हलाये-फूलों को गिरा देती है, उसी प्रकार भिक्षुओ, तुम राग और द्वेष को छोड़ दो ।

(३७८)

सन्तकाथो सन्तवाचो सन्तवा सुसमादितो ।

सन्तलोकामिसो भिक्षु उपसम्भोति बुध्यति ॥१६॥

जिसका शरीर शान्त है, जिसकी वाणी शान्त है, जिसका (मन) शान्त है, जो समाधि-युक्त है, जिसने लौकिक भोगों को छोड़ दिया है, वह भिक्षु उपशान्त कहलाता है ।

(३७९)

अत्ताना चोदयत्तानं पटिमासे अत्तमत्ताना ।

सो अत्तगुत्तो सत्तिमा सुखं भिक्षु विहासि ॥१७॥

जो स्वयं अपने आपको प्रेरित करेगा, जो स्वयं अपनी परीक्षा करेगा, वह आत्म-व्ययी, स्मृतिमान् भिक्षु सुखपूर्वक रहेगा ।

(३८०)

अत्ता हि अत्तमेो नाथो अत्ता हि अत्तमेो गति ।

एस्मा सम्मत्तमयत्तानं अस्सं भद्रं, व वाणिजो ॥१८॥

(आदमी) अपना स्वामी आप है, अपनी गति आप है, इसलिए अपने आपको उसी तरह संयत रखें, जैसे व्यापारी अपने छोटे को ।

(३८१)

पामोक्खबहुजो भिक्षु पसमो बुद्धसासने ।

अधिगच्छे पदं सन्तं सङ्गारूपसमं सुखं ॥१९॥

जो भिक्षु खूब प्रसन्न-चित्त है, जो बुद्ध के उपदेश में भगवान् है, वह सभी संस्कारों के शमन, सुखस्वरूप शान्त-पद को प्राप्त करता है ।

(३८२)

यो ह्वे वहरो मिक्खु युज्जते बुद्धासासने ।

सो इमं लोकं पभासेति अक्खमा मुचोव चन्दिमा ॥२३॥

जो मिक्खु तद्व्याहै में बुद्ध-आसन में संलग्न होता है, वह मेघ से मुक्त अक्खमा की भांति लोक को प्रकाशित करता है ।

२६—ब्राह्मणवग्गो

(३८३)

द्विन्द स्रोतं परस्मै कामे पनुद ब्राह्मण ।

संस्कारानं स्वयं भस्वा अकृतव्यसि ब्राह्मण ॥ १ ॥

हे ब्राह्मण, (तुम्हारा) स्रोत को द्विज कर दे, पराक्रम कर, काम-
नाम्नों को भगा । हे ब्राह्मण । संस्कारों के स्वयं को जानकर तू अकृत
(=निर्वाण) का आनकार हो जा ।

(३८४)

यदा ह्येसु धम्मेसु पारगू होति ब्राह्मणो ।

अथस्स सन्ने संयोगा अस्थं गच्छन्ति आनतो ॥ २ ॥

जब ब्राह्मण धित्त-संयम और भावना, इन दो बातों में पारंगत हो
जाता है, तब उस ज्ञानी के सभी बन्धन फट जाते हैं ।

(३८५)

अस्स पारं अपारं वा पारापारं न विज्जति ।

वीथहरं विसम्भुत्तं समहं भूमि ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

जिसका पार, अपार और पारापार नहीं है, जो निर्भय और
जानासक है, उसे ब्राह्मण कहता हूँ ।

(३८६)

अयिं विरजमासीनं कसकिच्छं अनासवं ।

उत्तमस्थं अतुप्पत्तं समहं भूमि ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

जो ध्यानी है, जो निर्मल है, जो एकान्त-सेवी है, कृतकृत्य है, जो ब्राह्मण-रहित है, जिसने उत्तम-अर्थ को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(३८७)

दिवा तपति आदित्यो रश्मिं आग्राति चन्द्रिमा ।

समग्रो जलित्यो तपति स्नायी तपति ब्राह्मण्यो ।

अथ सव्यमहोरत्तं बुद्धो तपति तेजसा ॥ ५ ॥

दिन में सूर्य चमकता है, रात को चन्द्रमा चमकता है, कवचबद्ध (होने पर) क्षत्रिय चमकता है, ध्यानी (होने पर) ब्राह्मण चमकता है, लेकिन बुद्ध अपने तेज से सदैव दिन-रात चमकते हैं ।

(३८८)

वाहितपापयोति ब्राह्मणो सम धरिया समणोति बुधति ।

पद्माजयमस्तनो मलं तस्मा पद्मजितोति बुधति ॥ ६ ॥

जिसने पापों को बहा दिया है, वह ब्राह्मण है, जिसकी चमकती लीक (लसत) है, वह प्रमत्त है; जिसने अपने (विच-) मलों को हटा दिया वह प्रमत्त कहलाता है ।

(३८९)

न ब्राह्मण्यस्त पदरेव्य नास्त बुधयेव ब्राह्मणो ।

वि ब्राह्मण्यस्त हन्तारं ततो वि यस्त बुधति ॥ ७ ॥

ब्राह्मण पर प्रहार न करे; (ब्राह्मण को चाहिये कि) प्रहारकर्ता पर कोप न करे । ब्राह्मण पर प्रहार करनेवाले को बिकर्षण है, लेकिन उससे अधिक विकर्षण है उस ब्राह्मण को जो प्रहार-कर्ता पर कोप करे ।

(३६०)

■ ब्राह्मणस्सेतवकिञ्चि सेय्यो

यदा निसेघो मनसो पियेहि ।

यतो यतो हिंसमनो निवत्तति

ततो ततो सम्मतिमेव दुक्खं ॥ ८ ॥

ब्राह्मण के लिए यह बात कम कल्याणकारी नहीं, जो वह प्रिय (वस्तुओं) से मन को हटा लेता है; जहाँ जहाँ मन हिंसा से विमुक्त होता है, वहाँ दुःख शान्त होता ही है ।

(३६१)

यस्स कायेन वाचाय मनसा नरिय दुक्खं ।

संचुतं तीहि ठानेहि तमहं भूमि ब्राह्मणं ॥ ९ ॥

जिसके शरीर, वाणी तथा मन से कोई पाप नहीं होता, जो इन तीनों स्थानों में संयत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(३६२)

यन्हा धम्मं विजानेय्य सम्मासम्मुदवेसितं ।

सक्ककर्त्तुं स' नमस्येय्य अग्निहुत्तां व ब्राह्मणो ॥१०॥

जिस उपदेशक से बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म जाने, उसे वैसे ही नमस्कार करे, जैसे ब्राह्मण अग्नि-होम को ।

(३६३)

न जटाहि न गोत्तेहि न जप्ता होति ब्राह्मणो ।

यन्हि सक्क धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥११॥

न जटा से, न गोत्र ने, न जन्म से ब्राह्मण होता है; जिसमें साथ और धर्म है, वही व्यक्ति पवित्र है और वही ब्राह्मण है ।

(३६४)

किं ते जटाहि दुष्मेभ ! किं ते भजिनसाटिषा ।

अधमन्तरं ते गह्वरं बाहिरं परिमण्डसि ॥ १२ ॥

हे दुर्वृत्ति ! जटाओं से तुझे क्या (लाभ !) और मृग-चर्म के पहनने से क्या ! अन्दर से तो तू मैला है, बाहर से पोता है ।

(३६५)

पंसुकूलधरं जन्तुं किञ्च धमनिसम्भृतं ।

एकं वनरिभं श्रयन्तं समहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १३ ॥

ओ कटे-पुराने वनों को धारण करता है, जो पतला दुबला है, जिसकी नसें दिखाई देती हैं, जो वन में अकेला घूमन करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(३६६)

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिर्जं मत्तिसंभवं ।

‘ओ वादी’ नाम सो होति स चे होति सकिञ्चनो ।

अकिञ्चनं अनादानं समहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १४ ॥

मैं ब्राह्मणी-माया से पैदा होने के कारण किसी को ब्राह्मण नहीं कहता । यदि वह सम्पन्न होता है तो उसे ‘मो’ से सम्बोधन किया जाता है । जिसके पास कुछ नहीं है, और जो कुछ नहीं लेता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(३६७)

सम्पन्नसम्बोजनं ज्ञेया यो वे न परितरसति ।

सङ्गातिगं विसृज्युषं समहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १५ ॥

जो सब सम्पन्नों को काटता है, जो निर्मम है, जो संग और आसक्ति से रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(३६८)

छेत्वा नखिं वरतत्र सम्दामं सहनुक्कर्म ।

सन्निवृत्तपलिधं मुहं तमहं भूमिं ब्राह्मणं ॥१६॥

नखि, रस्सी, पगड़े, और मुँह पर बाँधने के जाले को काट, तुझे को
कैक जो मुह हुआ, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(३६९)

अककोत्तं वधवन्धश्च अनुष्ठो यो तितिक्षयति ।

सन्निवृत्तं बलानीकं तमहं भूमिं ब्राह्मणं ॥१७॥

गाली, मथ और बन्धन को जो बिना धिक् को दूषित किए सहन
करता है, समा-बल ही जिसकी सेना का सेना-पति है, उसे मैं ब्राह्मण
कहता हूँ ।

(४००)

अककोधनं वधवन्धश्च लीलवन्तं अनुस्त्वत् ।

वन्तं अन्तिमसारीरं तमहं भूमिं ब्राह्मणं ॥१८॥

जो अकधी है, जो मर्ती है, जो सहाचारी है, जो लुब्धा-रहित है, जो
सबजी है, जो अन्तिम शरीरधारी है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४०१)

वारि पोक्खरपरोष आरग्गेरिव सासपो

यो न लिम्पति कामेसु तमहं भूमिं ब्राह्मणं ॥१९॥

कमल के पसे पर पानी की बूँदें और आरे की नोक पर खरों के
हाने की भाँति जो काम-भोगों में अलित रहता है, उसे मैं ब्राह्मण
कहता हूँ ।

(४०२)

यो दुःखस्तु पजानाति इषेव खयमचनो ।

पञ्चमारं विसृज्य तमहं भूमि आश्रय ॥२०॥

जो इसी जन्म में अपने दुःख के लय को जानता है, जिसने अपना भार उतार दिया है, जो आश्रय-रहित है, उसे मैं आश्रय कहता हूँ ।

(४०३)

गम्भीरपठ्यं मेधाविं मग्नामग्नास्तु कोविद् ।

उत्तमस्य अनुपपत्तं तमहं भूमि आश्रय ॥२१॥

जो गम्भीर प्रणाला है, जो मेधावी है, जो मार्ग-अमार्ग को पहचानता है, जिसने उत्तम-अर्थ को प्राप्त कर लिया है, उसे मैं आश्रय कहता हूँ ।

(४०४)

असंसदृष्टं गहदृष्टेहि अनागरेहि चूभयं ।

अनोकसारिं अपिच्छं तमहं भूमि आश्रय ॥२२॥

जो एहस्थ और प्रवर्जित दोनों से अलिस रहता है, जो इच्छा-रहित है, उसे मैं आश्रय कहता हूँ ।

(४०५)

निधाय दण्डं मूलेषु तसेषु पादरेषु च ।

यो न हन्ति न घातेति तमहं भूमि आश्रय ॥२३॥

जो चर-अचर सभी प्राणियों की हिंसा से विरत हो, न किसी को मारता है, न मारने की प्रेरणा करता है, उसे मैं आश्रय कहता हूँ ।

(४०६)

अविच्छेदं विच्छेदेषु अचदण्डेषु निन्नुहं ।

सादानेषु अनादानं तमहं भूमि आश्रय ॥२४॥

जो विरोधियों में अविरोधी, जो दण्ड - वारियों में दण्ड-त्यागी, जो संग्रह करनेवालों में असंग्रही है; उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४०४)

सस्य रागो च दोषो च मानो मक्खो च पासितो ।

सासपोरिक् आरग्गा तमहं जूमि ब्राह्मणं ॥२५॥

जिस (के विषय) से राग, द्वेष मान और बाह्र देते ही गिर पड़े हैं जैसे आरे के ऊपर से सरसों के दाने, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४०५)

अकक्कसं विष्णुपापनिं गिरं सकुब्बं सदीरये ।

वाय नामिसजे कम्मि तमहं जूमि ब्राह्मणं ॥२६॥

जो अकक्कस, विषय को स्पष्ट करनेवाली तथा लक्ष्मी नाखी धोलाता है, जिससे किसी को पीड़ा नहीं पहुँचती, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४०६)

बोव दीघं वा रस्सं वा अयां थूलं सुभासुभं ।

लोके अदिप्पं माविपसि तमहं जूमि ब्राह्मणं ॥२७॥

बाहे लम्बी हो चाहे छोटी, बाहे मोटी हो चाहे पतली, बाहे अच्छी हो चाहे बुरी, जो संसार में किसी भी चीज़ की चोरी नहीं करता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४१०)

आसा यस्स न विज्जन्ति अस्मिं लोके परम्मि च ।

निरासयं विसंयुत्तं तमहं जूमि ब्राह्मणं ॥२८॥

इस लोक और परलोक की (किसी चीज़ में) जिसकी इच्छा नहीं है, जो इच्छा-रहित है, जो आसक्ति-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४११)

यस्मात्तया न विजिन्ति अकम्पाय अकथंकथी ।

अमतोर्गर्भं अनुप्यत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३६॥

जो आसक्ति-रहित है, जो जानकार होने से संशय-रहित है, जिसने गाढ़े अमृत को पा लिया है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४१२)

योश्च पुण्यञ्च पापञ्च कभो सङ्गं वपञ्चगा ।

असौक्यं विरजं सुखं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३७॥

जो इस संसार में पुण्य और पाप दोनों से परे है, जो शोक-रहित है, जो निर्मल है, जो शुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४१३)

चन्द्रश्च विमलं सुखं विष्णुसत्त्वमभाविता ।

मन्दीभयपरिकल्पीयां तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३८॥

जो चन्द्रमा की भाँति विमल, शुद्ध और स्वच्छ है, जिसके भय-तृष्णा नष्ट हो गई है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४१४)

यो, इमं पलिपथं दुग्गं संसारं मोहमञ्जगा ।

तियणो पारगतो भायी अनेजो अकथंकथी ।

अनुपावाय निम्मुतो तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३९॥

जिसने इस दुर्गम संसार (जन्म-मरण) के चक्र में डालनेवाले मोह-रूप उलटे मार्ग को त्याग दिया, जो तीर्थ हो गया, जो पार कर गया, जो ध्यानी है, जो स्थिर है, जो संशय-रहित है, जिसने उपादान-रहित निर्वाण को प्राप्त कर लिया, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४१५)

योध कामे पइत्थान अनागारो परिब्बजे ।

कामभयपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३३॥

जो काम भोगों को छोड़ बेघर हो प्रसन्न हो गया है, जिसका काम-भय नष्ट हो गया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४१६)

योध तवहं पइत्थान अनागारो परिब्बजे ।

तवह्माभयपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३४॥

जो तुम्हारा जोड़ बेघर हो प्रसन्न हो गया है, जिसका तुम्हारा-भय नष्ट हो गया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४१७)

हित्वा मानुसकं योगं दिव्यं योगं उपपन्नगा ।

सव्ययोगविसंयुतं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३५॥

जिसने मानुषी-भोगों को छोड़ दिया, दिव्य-भोगों को भी छोड़ दिया, जो सभी भोगों के प्रति अनासक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४१८)

हित्वा रतिञ्च अरतिञ्च सीलीभूतं निरुपधिं ।

सव्यलोकाभिभुं धीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३६॥

जिसने रति और अरति को छोड़ दिया, जो शान्त हो गया, जो क्लेश-रहित है, जिस वीर ने सारे लोक को जीत लिया, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४१९)

धुतिं यो वेदिं सत्तानं उपपत्तिञ्च सव्यसो ।

असक्तं सुगतं सुखं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३७॥

जो प्राणियों की मृत्यु तथा उत्पत्ति को भले प्रकार जानता है, जो आसक्ति-रहित सुगति-प्राप्त हुए हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४२०)

यस्स गतिं न जानन्ति देवा गन्धर्वमाजुसा ।

स्त्रीणासत्तं अरहन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४२॥

जिसकी गति को न देवता जानते हैं, न गन्धर्व और न मनुष्य, जो स्त्री-ब्राह्मण है, जो अर्हत् है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४२१)

यस्स पुरे च पञ्चमा च मक्खे च अरिं किञ्चनं ।

अकिञ्चनं अमादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४३॥

जिसकी अतीत, वर्तमान या भविष्य में कहीं कुछ आसक्ति नहीं है, जो परिग्रह-रहित, आदान-रहित है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४२२)

यसमं पवरं वीरं महसिं विजिताचिनं ।

अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४०॥

जो भेष्ट है, जो पवर है, जो वीर है, जो महर्षि है, जो विजेता है, जो स्थिर है, जो स्नातक है, जो बुद्ध है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४२३)

पुब्बेनिवासं यो वेदिं सग्गापामज्जं पस्सति ।

अथो जातिवत्तयं पत्तो अभिक्ख्यावोसितो सुनि ।

सक्खवोसितवोसानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४१॥

जो जन्म को जानता है, जो स्वर्ग और नरक को देखता है, जिसका (पुनः) जन्म क्षीण हो गया, जो अभिक्खावा है, जिसने निर्वाण प्राप्त कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

गाथा-सूची

अकम्पकृतं	२६।२६	अनवद्वितयितस्त	१।६
अकतं दुक्कतं	२२।६	अनवस्तुतयितस्त	१।७
अककोष्ठि मं	१।३,४	अनिकसाधो काकार्य	१।६
अकोधनं वतवन्तं	२६।१८	अनुपुम्बेन मेधावी	१८।५
अकोधेन विने	२७।३	अनूपवाधो अनूपवातो	१४।७
अवतिस्था मद्य-	११।१०, १२	अनेकजातिसंसारं	११।८
अकोष्ठं वधवन्धं	२६।१७	अन्धभूतो अर्थ	१३।८
अविर् वतर्ष	३।६	अपि दिव्ये	१४।३
अब्बा हि लामू-	५।१६	अपुम्बलाभो च	२२।५
अड्डीनं मगरं	११।५	अप्यका ते	६।१०
अस्तदत्तं	१२।१०	अप्यमत्तो कर्ष	४।१३
अस्तना बोध-	२५।१०	अप्यमत्तो पमत्तं	२।६
अस्तनाय कर्त	१२।५	अप्यमादरता होध	२३।८
अस्तनाय कर्तं पार्प	११।६	अप्यमादरतो भिक्खु	१।११, १२
अस्तान्धवे तथा	१९।३	अप्यमादेन मद्यवा	२।१०
अस्तान्धवे विमं	१९।१	अप्यमादो अमत्तपदं	२।१
अस्तानमेव पठमं	१२।२	अप्यभि चे छंहितं	१।२०
अस्ता हवे मितं	८।५	अप्यलाभोपि चे	२५।७
अस्ता हि अस्तनो नापी	२५।२१	अप्यस्तुता	११।७
अस्ता हि अस्तनो	१२।४	अभये च भय-	२९।१२
अत्यभि जातमिह	२३।१२	अभित्यरेथ	६।१
अथ पापानि	१०।८	अभिवादनसीक्खिस्त	८।१०
अथवस्तु अगाथानि	१०।१२	अभूतवादी निरर्थ	२२।१

अथसाधु मर्त	१८।६	उद्धानवतो सतिमतो	२।४
अथोमे युम्ज-	१६।१	उद्धानेन	२।५
अलङ्कृतो वेपि	१०।१४	उत्तिष्ठे	१३।२
अलङ्कृता ये	२२।११	उदकं हि	६।५।१०।१७
अथमे यज	१२।१६	उपनीतवधी	१८।३
अविद्वद् विद्वद्भ्यु	१६।२४	उप्युज्जान्ति	७।२
असत्प्रभयमला	१८।७	उत्तमं पवर्	२६।४०
असत् माधन-	५।१४	एकं धर्मं	१३।१०
असत्सुद्धं	२६।२२	एकस्व चरितं	२३।११
असारे सारमतिनो	१।११	एकासनं एकसेव्यं	२३।२६
असाहसेन धर्मेन	१६।२	एतं लो सरणं	१४।१४
अनुभानुपस्ति	१।८	एतं दत्तं	२४।१३
असह्यो अकतम्भू	७।८	एतमथर्वत	२०।१७
असो यथा भद्रो	१०।१६	एतं विसेसतो	२।२
अहं नागो 'य	२३।१	एतं हि दुग्धे	२०।३
अहिंसका ये	१७।५	एथ पस्सयिमं	१३।५
आकासे च पर्व	१८।२०, २१	एवम्भो पुरिस	१८।१४
आरोग्यपरमा	१५।८	एवं संकारभूते-	४।१६
आसा यस्त	२६।२८	एसो'य मगो	२०।२
इह पुरे	२३।७	आवदेव्य	६।२
इष तप्पति	१।१७	कथं धर्मं	६।१२
इष नयति	१।१८	कथिरक्षं	२२।८
इष मोदति	१।१६	कर्मतो जायते	१६।७
इष वस्तं	२०।१४	कावप्यकोषं	१७।११
इष सोचति	१।१५	कायेन संवरो	२५।२
उच्छिन्द सिनेह-	२०।१३	कायेन संवृता	१७।१४
उद्धानकाशमि	२०।८	काशवक्यठा-	२२।२

किञ्छो मनुस्स-	१४।४	आयिं विरल-	२६।४
किं ते अटाहि	२६।१२	सज्ज कम्म	५।६
कुम्भूरमं	३।८	तयहाय जायसे	१६।८
कुलो यथा	१२।६	ततो मला	१८।६
को इमं पठयिं	४।१	तस्माभिरति	६।११
कोयं जहे	१७।१	तस्मायमादि	१५।१६
खन्ती परमं तपो	१४।६	तथेव कत-	१६।१२
गतस्सिनो	७।१	तं पुत्त-पुत्त-	२०।१५
गम्भमेके	६।११	तं वो यदामि	२४।४
गम्भीरपम्भ-	२६।११	तस्मिणां पुरकत्ता	२४।१०, ६
गहकारक	११।६	तस्मा पिपं	१६।६
गामे वा यदि	७।६	तस्मा हि बीरं	१५।१२
चक्खुना	२५।१	तियोदोत्तानि	२४।१३, २४, २५, २६
चत्तारि ठानानि	२१।४	ग्रन्थेहि किञ्च	२०।४
चम्पनं तगरं	४।११	ते आयिनी	२।६
चम्पं च विमल-	२६।११	ते तावित्ते	१४।१८
चरस्सेनाधि-	५।२	तेसं सम्पन्न	४।१४
चरन्ति वाता	५।७	वदन्ति वे	१८।१५
चिरप्पवासिं	१६।११	वन्तं नवन्ति	२३।२
सुत्तिं यो वेदि	२६।१७	दिवा तपति	२६।५
सुन्दजासो	१६।१०	दिखो दिखं	३।१०
खिन्दं छेत्तं	२६।१	दीप्ता जागरतो	५।१
क्षेत्ता नन्दिं	२६।१६	पुक्खं	१४।१३
जयं वेरं	१५।५	सुभिग्गहस्स	६।३
जिह्वच्छापरमा	१५।७	सुप्पम्भजं	२१।१३
जीरन्ति वे राज-	११।६	सुत्ताभो	१४।१५
म्लाय मिकलू	२५।१२	दूरगमं	३।५

दूरे सन्ती	२१।१५	न ब्राह्मण्यस्व-	२६।७
घनपालको	२३।५	न बाह्यव्यस्ते-	२६।८
धम्मं चरे	११।३	न भवे	६।३
धम्मपीती	६।४	न मुखकेन	१६।६
धम्माराभो	२५।५	न मोनेन	१६।१३
न अत्तदेव	६।६	न वाककरव-	१६।७
न अन्तलिक्खे	११।२, १३	न वे कदरिया	१३।११
न कदापय-	१४।८	न सन्ति पुत्ता	२०।१६
नगरं यथा	२२।१०	न खीलम्भ-	१६।१६
न ग्राहं	२६।१४	न हि एतेहि	२३।४
न ग्राहु	१७।८	न हि पापं	५।१२
न जटाहि	२६।११	न हि वेरेन	१।५
न तं कम्मं	५।८	निट्ठं गतो	२४।१८
न तं दृष्टं	२४।१२	निधाय दय्यं	२६।११
न तं माता	३।११	निधीनं'व	६।१
न छावता धम्म-	१६।४	नेनस्सं	१७।१०
न तेन अरियो	१६।१५	नेत्तं खो सरब्बं	१४।११
न तेन घेरो	१६।५	नेव देवो	८।६
न तेन पण्डितो	१६।३	नो च लोभेव	२३।१०
न तेन भिक्षु	१६।११	पञ्च छिन्दे	२५।११
न तेन होति	१६।१	पटिसन्धार-	२५।१७
नत्थि भन्नं	२५।१३	पठवीसमो	७।६
नत्थि राग-	१५।६	परुडुपलासो	१८।१
नत्थि राग-	१८।१७	पयव्या एकरत्नेन	१३।११
न नर्गो-	१०।११	पमादमजु-	२।६
न परेसं	४।७	पमादमप्यमादेन	१।८
न पुष्पगान्धो	४।११	परुडुनस्सुपदानेन	२१।३

परवक्कानुपस्सि-	१८।१६	मनोप्पकोपं	१७।१३
परिजिण्णामदं	१९।१	मनो पुज्जङ्गमा	१९।२
परे च न	१।६	समेव क्त-	५।१५
पधिवेकरसं	१५।६	मिलिस्थिया	१८।८
पंक्षुकूलधरं	२६।१३	सततरं पितरं	२१।५, ६
पदसं चित्तकलं	१९।२	मा पमाद-	३।७
पाणिभिह चे	१।६	मा पियेहि	१६।२
पापसं पुरिसो	१।२	मा' वमञ्जये पापदस	१।६
पापानि परि-	१९।१४	मा' वमञ्जये	१।७
पापो' पि पदसति	१।४	मा वीथ फरसं	१०।५
पामोज्जवहु-	२५।२६	मासे मासे कुस-	५।१९
पियतो जायते	१६।४	मासे-मासे सहसेन	८।७
पुञ्जञ्चे पुरिसो	१।१	मिद्धी दया	२६।६
पुत्ता म' रिथ	५।१	मुञ्च पुरे	२४।१५
पुञ्चेनिकासं	२६।४९	मुहुत्तमपि	५।९
पूजारणे	१४।१७	मेत्तामिहारी	२५।९
पेमतो जायते	१६।५	य स्तञ्जस्त-	१२।३
पीराणमेतं	१७।७	यं एता सहती	२४।९
फंदनं चपलं	३।१	यं किञ्चि मिट्ठं	८।९
कुलामि मेकलमम	१९।१७	यं किञ्चि सि-	२९।७
फेनूपमं	४।३	यञ्चे मिञ्ज	१७।९
मालासंगतञ्चारी	१५।१९	यतो यतो सम्म-	२५।१५
मग्घो 'पि	१।५	यथागारं पुञ्जुलं	१।१६
मगानट्टंरिको	२०।१	यथागारं पुञ्जुलं	१।१४
मत्तामुलपरिञ्चागा	२१।१	यथा दधकेन	१०।७
मधुवा मञ्जली	५।१०	यथापि पुप्फ-	४।१०
मनुजस्स पमस-	२४।१	यथापि भमरो	४।३

यथापि मूले	२४।५	ये च खो	६।११
यथापि रहसो	६।७	ये भानपकुला	१४।३
यथापि कश्चि	४।८, ९	ये रागरसा	२४।१४
यथा मुग्धलक	१३।४	येत' च मुसमा-	२१।४
यथा सङ्कार-	४।१५	येत' सन्निवयो	७।३
यथा द्वयेषु	२६।२	येत' सम्बोधि	६।१४
यथा धम्मं	२६।१०	यो अप्यदुष्टरस	६।१०
यं हि किञ्च	२१।३	यो इमं पलिपयं	२६।३२
यन्नि सञ्च च	१६।६	योगा ये लायती	२०।१०
यस्त कायेन	२६।१२	यो च गाथा-	८।३
यस्त गति	२६।३८	यो च पुम्बे	१३।६
यस्त चेतं समु-	१६।८	यो च कुदञ्च	१४।१२
यस्त चेतंसमु-	१८।१६	यो न मन्तकसाव-	१।१०
यस्त क्षिंसती	२४।६	यो च वस्ततत	८।८
यस्त जालिनी	१४।१	यो च समेति	१६।१०
यस्त मितं	१४।१	यो चेतं सङ्गी	२४।३
यस्त पापं	१३।७	यो दयमेन	१०।६
यस्त पारं अपारं	२६।१	यो दुक्कलरत	२६।२०
यस्त पुरे च	२६।३६	यो च कामे	२६।३१
यस्त रागो च	२६।२५	यो'च तयहं	२६।३४
यस्तालया न	२६।२६	यो'च दीवं	२६।२७
सस्तासवा	७।४	यो'च पुम्बं	२६।३०
मस्तिद्रिधाधि	७।५	यो'च पुम्बं	१६।१२
यानि' मानि	११।४	यो निम्बानयो	२४।११
याव जीवमि	५।५	यो पाणमतिपातेति	१८।१२
यावदेव अनत्थाय	५।१३	यो बालो	५।४
यावं हि वनो	२०।१२	यो मुक्त-	२५।४

यो वे उष्पतिर्त	१७।१	सम्पत्कायो	२५।१६
यो सहस्त्र-	८।४	सन्तं तस्स	७।७
यो सासनं	१२।८	सम्पत्तये	६।८
यो हवे दहरो	२५।२३	सम्पदानं	२४।२१
रतिया जायते	१६।६	सम्पदापस्त	१४।५
रमणीयानि अरम्भानि	७।१०	सम्पसंयोजनं	२६।१५
रागतो वा	१०।११	सम्पत्तो नाम-	२५।८
वची एकोपं	१७।१२	सम्पत्तिम्	२४।२०
वज्रश्च वज्रतो	२२।१४	सम्पत्ते तसस्ति	१०।१,२
वर्तं छिन्दय	२०।११	सम्पत्ते वज्रा	२०।७
वर्गं अस्सत्तरा	२३।३	सम्पत्ते सङ्कारा अ-	२०।५
वस्तिष्ठा विष	२५।१८	सम्पत्ते सङ्कारा दु-	२०।६
वहुम्पि चे	१।१६	वरितानि	२४।८
वहुं वे सरथं	१४।१०	सल्लभं	२५।६
वाचानुरक्खी	२०।६	सवन्ति सम्प-	२४।७
वाणिजो'व	६।८	सहस्सम्पि चे गाथा	८।२
वारिजोव	३।२	सहस्सम्पि चे वाचा	८।१
वाहितपापो	२६।६	साहु दस्सन-	२५।१०
वितक्कपमयितस्त	२४।१६	सारथ	१।१२
वितक्कूपसमे च	२४।१७	सिद्धि भिक्खु	२५।१०
वीततत्तहो अनारादानो	२४।१९	सीलदस्सन-	१६।६
वेदनं फक्खं	१०।१०	सुकरानि	१२।७
सचे नेरेसि	१०।६	सुलकामानि	१०।३,४
सचे लमेव	२३।६	सुलं याव	२३।१४
सच्चं भणो	१७।४	सुलामत्तेय्यता	२३।१३
सदा जागरमानानं	१७।६	सुलो सुदानं	१४।१६
सद्धो सीलेन	२१।१४	सुजीवं	१८।१०

मुष्मागारं	२५११४	सो करोहि	१८२,४
मुदत्तं वम-	१८२८	हृत्पञ्चमो	२५१३
मुदृष्टं	३१४	हन्ति भोगा	२५२२
मुष्मदं	२१०, १२	हंसा' दिव-	१३६
मुभानुपस्ति	१७	ह्रिन्वा मानुसकं	२६३५
मुरामेरपानं	१८२३	ह्रिन्वा रतिं	२६३६
मुमुक्षुं पत	१५१४	हिरीनिसेवो	१०१५
सेतो पठति	४१९	हिरीमथा च	१८२१
सेव्यो यो-	२२३	हीनं वर्मा	१३१
सेको यथा	६६		

—

शब्द सूची

पृ० १. धर्म—बुद्ध के उपदेश में धर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ धर्म शब्द से वेदना, संज्ञा तथा संस्कार इन तीन अरूप-स्कन्धों का ग्रहण है।

पृ० २. सुभाभावना—काम-भोगों को ही सब कुछ समझने की चेतना।

पृ० ३. असुभाभावना—शरीर की गन्दगी का ध्यान, जिससे काम-भोगमय जीवन से अग्रचि हो। इस ध्यान के इस प्रकार हैं।

पृ० ३ भार—इन्द्र से ऊपर और ब्रह्मा से नीचे का देवता, जिसे वैदिक साहित्य में प्रजापति कहते हैं। (२) राग, द्वेष, मोह आदि मन की दुष्ट-चिन्ता, जो सत्य के मार्ग में बाधक होती हैं, उन्हें ही रूपक करके भार नाम का एक देवता माना गया है।

पृ० ८. आर्य—स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी तथा अर्हंत (= जीवन्मुक्त)।

पृ० १४. शैब—स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी पद प्राप्त व्यक्ति को, जो अमी अर्हंत नहीं हुआ शैब कहते हैं, क्योंकि वह अभी शिष्यहीन है।

पृ० २५. सम्बोधि अङ्ग—स्मृति, धर्म-विचय, वीर्य (= उद्योग), प्रीति, प्रभञ्जि (= शान्ति), समाधि तथा उपेक्षा।

पृ० २७. आश्रय—(= गल) [१] कामाश्रय (= काम भोग-सम्बन्धी इच्छा), भवाश्रय (= भिन्न-भिन्न लोकों से जन्म लेने की इच्छा), दृष्ट्याश्रय (= गलत आदरणा), तथा अविद्याश्रय।

पृ० ५०. स्रोतापन्न—आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर आरुढ़ व्यक्ति जिसका अपने लक्ष्य तक पहुँचना निश्चित है।

पृ० ५१. अपद—रागादि से मुक्त।

पृ० ५५. तयागत—बुद्ध = तया-गत वा तया-आगत।

पृ० ७६. आर्य-सत्त्व—दुःख, दुःख समुद्र, दुःखनिरोध तथा दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा।

पृ० ७६. चक्षुमान—पाँच प्रकार के ज्ञान (=बहु) से युक्त।

पृ० ७६. अष्टांगिक मार्ग—[१] सम्यक् दृष्टि [२] सम्यक् संकल्प, [३] सम्यक् वाणी, [४] सम्यक् कर्मान्त, [५] सम्यक् आजीविका, [६] सम्यक् व्यायाम, [७] सम्यक् स्मृति, [८] सम्यक् समाधि।

पृ० ७६. सुगत—सम्यक् गमन वा सम्यक् गति वाले = बुद्ध।

पृ० ८२. कायातुस्मृति—शरीर और शारीरिक कर्मों के प्रति आगस्तता।

पृ० ८२. आत्म-दृष्टि—शरीर और मन के परे 'आत्मा' नाम की किसी नित्य-सत्ता को मानना।

पृ० ८२. वच्छेद-दृष्टि—मरण पर्यन्त और कर्म से पूर्व किसी प्रकार के अस्तित्व को न मानना।

पृ० ८२. पाँच उपादान स्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान।

पृ० ८२. पाँच आवरण—पाँच नीवरण [१] कामेच्छा, [२] व्यापाद, [३] स्वानमृद, [४] ओदत्य-क्रोदस्थ, [५] विचिकित्सा।

पृ० ८३. वीरण—अमर-वेल।

पृ० ८४. छत्तीसभोत—चक्षु, श्रोत्र आदि १८ अन्दरूनी तथा रस, शब्द आदि १८ बाहरी—कुल ३६ भोत।

पृ० ६६. धर्म—काम-लोक, रूप-लोक तथा आकाम-लोक करके त्रिभूमिक धर्म ।

पृ० १०३. पाँच की छोटे—[१] लसाव दृष्टि, [२] विधिकिता = लगेद, [३] शीशवत-परामर्श, [४] काम-राग, [५] रूप-राग ।

पृ० १०३. पाँच की छोटे—[१] अकाम-राग, [२] प्रसिध, [३] मान, [४] धौडाव, [५] अविधा ।

पृ० १०३. पाँच की भावना करे—अज्ञा आदि पाँच इन्द्रियों ।

पृ० १०३. पाँच को लॉच काय—[१] राग, [२] द्वेष, [३] मोह, [४] मान, [५] दृष्टि ।

पृ० ११६. काममय—[१] मय काय (= वस्तुओं की कामना, [२] लोभ-मय (चित्त की अतृप्तियों को तृप्त करने की कामना)

पृ० ११६. पुण्यामय—ज्ञा इन्द्रियों के भोगों की पुण्या ।









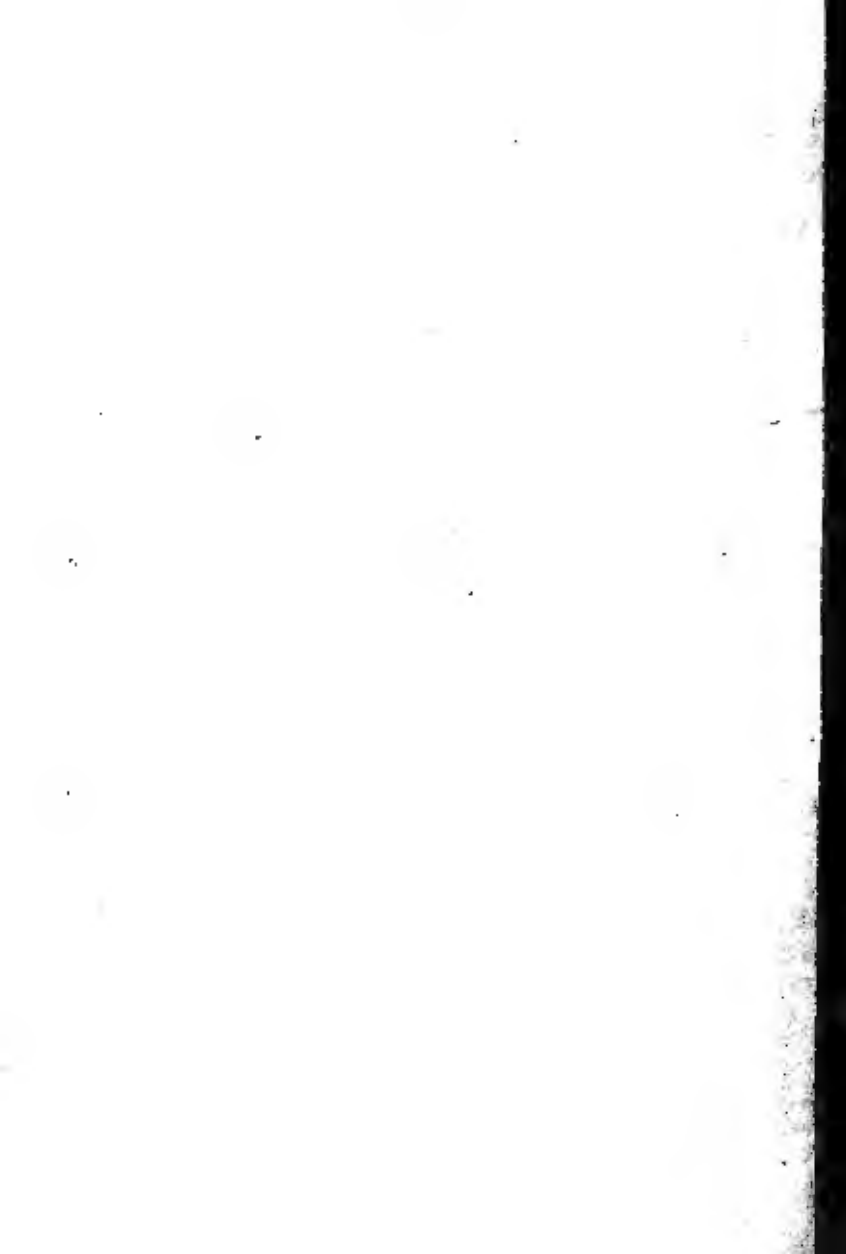
हमारे अन्य आकर्षण

जो न भूल सका संस्करण—	अनन्त प्रसार	कोयला
चहुँती धूप—	उपन्यास—	‘संयत्न’
कान्ति दूत—	“	—धीकृष्णदास अम. १०. १५)
अग्नि-पथ—	(दूसरा संस्करण),	“
हृदय का कोना “	“	—अनन्त प्रसार विद्यापी... १५)
संघर्षों के बीच (तोषण)	“	—योगप्रसाद विद्यापी... १५)
महिमा	“	“
विराग (दूसरा संस्करण)	“	“
चन्द्रमित्रा	“	—वेत्तीप्रसाद वाजपेयी १५)
अंगारे (दूसरा संस्करण)	कथा-संग्रह—	भगवती प्रसाद वाजपेयी १५)
चोराहे से	कविता—	जगदीशचन्द्राण अग्रणी १५)
बेता	“	—नित्यजी १५)

प्रकाशक—

हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, शाहीनवाड़ा, इलाहाबाद





Central Archaeological Library,
NEW DELHI.

Call No. 19233
BP a3/Dha-/Kau

Author—*डॉ. हनुमान चन्द्रावत*

Title—*धम्मपदं*

"A book that is shut is but a block."

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.